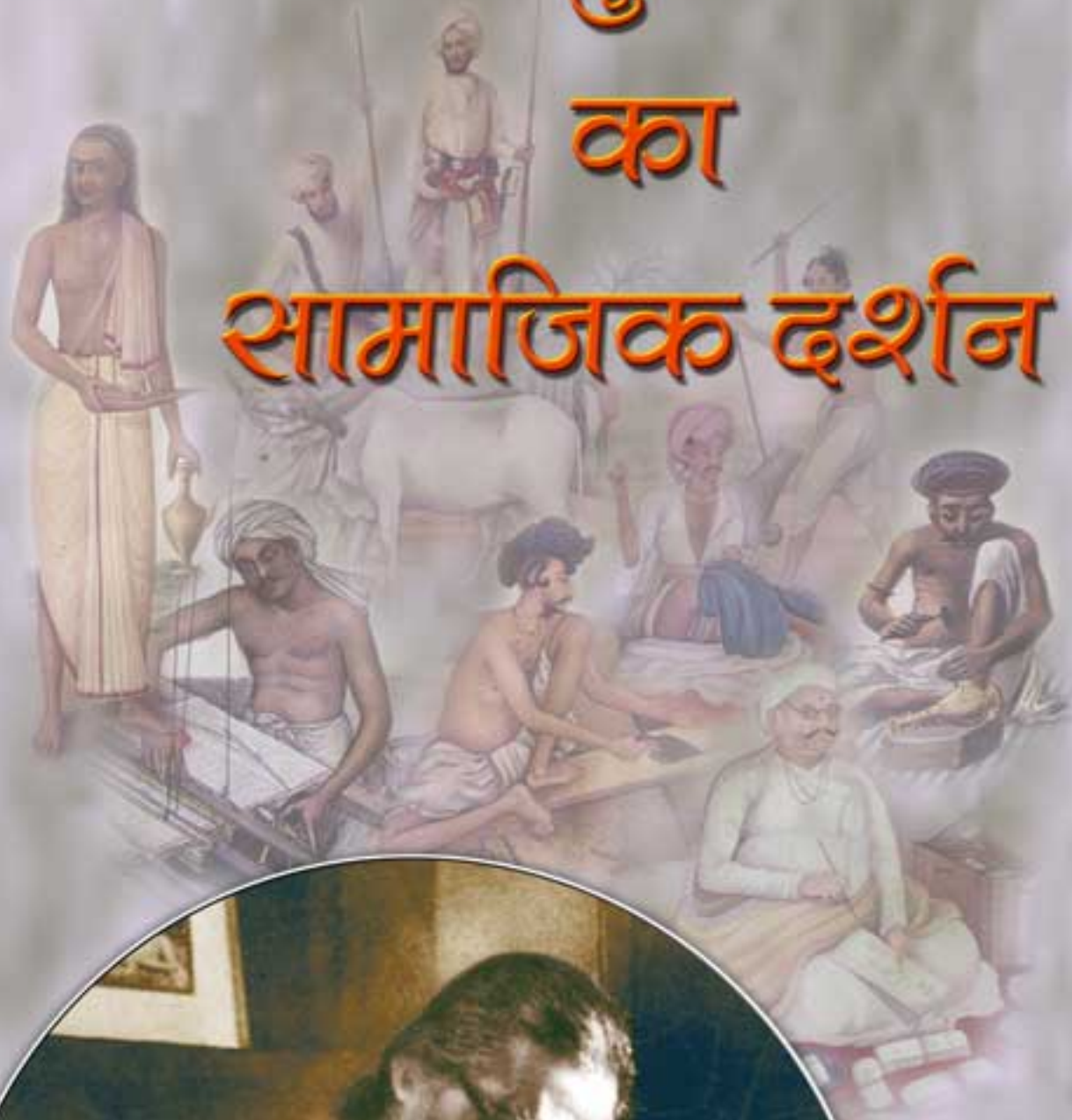


श्री गुरुजी का सामाजिक दर्शन



संकलनकर्ता
श्री रा. वि. बोंडाळे

श्री गुरुजी का सामाजिक दर्शन

संकलनकर्ता
श्री रा.वि.बोंडाळे

“जिस प्रकार किसी पेड़ के बढ़ते समय उसकी सूखी शाखाएँ गिरकर उनके स्थान पर नई-नई शाखाएँ खड़ी हो जाती हैं उसी प्रकार अपने समाज में भी एक समय विद्यमान वर्ण व्यवस्था में बदल कर अपने लिए आवश्यक नई रचना समाज करेगा । यह समाज की विकास प्रक्रिया का स्वाभाविक अंग है।”

-श्री गुरुजी



1. पाश्चात्य समाज व्यवस्था के दो प्रतिमान

अ) व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद

यहाँ से अंग्रेजों के चले जाने के बाद हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि हम अपनी भावी राष्ट्र-पुनर्रचना के लिए कौन-सा प्रतिमान (पैटर्न) चुनें? आज के संसार में समाज-व्यवस्था के दो बड़े प्रतिमान १. व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद और २. कम्युनिज्म प्रचलित हैं।

प्रथम प्रतिक्रिया की गति

इन दोनों में जो प्राचीनतर है, वह जनतन्त्र कहा जाता है। यूरोप के देशों में निरंकुश राजसत्ता की प्रतिक्रियास्वरूप इसका उद्भव हुआ। उस समय वहाँ व्यक्ति दास मात्र था। स्वप्रेरणा और स्वतंत्रता से विहीन तथा ईश्वर के समान समझे जाने वाले बादशाहों के हाथ का एक खिलौना मात्र था। जनता ने विद्रोह कर 'नृपत्व के दैवी अधिकार' उलट दिए तथा सदा के लिए राजसत्ता की शक्ति को चूर कर दिया। उस समय प्रत्येक की जिह्वा पर था एक प्रेरणादायी घोष- 'स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता।' यह उच्च स्वर से उद्घोषित हुआ कि अब दासता एवं अत्याचारों की एक अंधेरी रात का अवसान होकर अब 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य', 'व्यक्ति के अधिकारों का पावित्र्य' तथा 'सभी के लिए समान अवसरों' के युग का उदय हो चुका है।

(गु.स.खं.११ पृष्ठ २०-२१)

सामाजिक आत्महजन का मार्ग

अब हम आधुनिक समाज के दूसरे प्रेरणा-सूत्र 'उन्मुक्तता' पर विचार करते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन का आनन्द स्वैच्छिक ढंग से प्राप्त करने के लिए सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। किसी प्रकार का बंधन नहीं है। यह वासना, खान-पान, पारिवारिक जीवन, सामाजिक अन्तः सम्बन्ध इत्यादि सभी विषयों में बेलगाम एवं स्वैराचारी है। यह उसके वार्तालाप, लेखन, आचार-विचार सभी में परिलक्षित होता है। इस प्रकार की 'उन्मुक्तता' मानवता के वास्तविक सुख में साधक नहीं हो सकती। इस प्रवृत्ति का पहला और सबसे जबरदस्त प्रभाव यह होगा कि समाज का तानाबाना ध्वस्त हो जाएगा। पश्चिमी जगत् का आधारभूत 'सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त' भी इस ज्वार को रोकने में असमर्थ है; क्योंकि यह सिद्धान्त मुख्य रूप से व्यक्ति और समाज के बीच पारस्परिक स्वार्थों की सुरक्षा का आपसी समझौता है। परन्तु जब व्यक्ति यह मानने लगता है कि यह तो व्यक्तियों के बीच आपसी अनुबंध-मात्र है, इसमें कोई पवित्र बंधन नहीं है, अतः अपने हित में न होने पर वह इसको तोड़ने के लिए स्वतन्त्र है, तब समाज के पास इस तर्क का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं होता कि इस प्रकार कोई पक्ष (व्यक्ति) अनुबन्ध को तोड़ता है, तो सामाजिक संगठन का आधार स्वतः नष्ट हो जाएगा। तब समाज विखण्डित होकर छिन्न-भिन्न हो

जाएगा। ऐसे विखण्डित समाज में व्यक्ति के सुख की नियति क्या होगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

जब समाज को एक जीवन्त समष्टिसत्ता मानकर व्यक्ति को उसके अंग के रूप में देखा जाएगा तभी ऐक्यकारी सामाजिक चेतना का भाव उसके मन पर अंकित किया जा सकेगा। तभी वह अपने मनोविकारों को नियन्त्रित कर समाज हित के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकेगा। हिन्दू दर्शन ठीक इसी बात का प्रतिपादन करता है।

अस्वस्थ मनोभावों का उदय

आधुनिक समाज का दूसरा तत्त्व है प्रतिस्पर्धा। ऐसा दावा किया जाता है कि प्रगति के लिए स्पर्धा आवश्यक है, परन्तु यह सामान्य अनुभव की बात है कि प्रतिस्पर्धा लम्बे समय तक स्वस्थ नहीं रह सकती; क्योंकि स्वस्थ रहना उसकी प्रकृति में नहीं है। स्पर्धा शीघ्र ही विकृत हो जाती है, क्योंकि दूसरे की तुलना में अपना निष्पादन उत्तम करने की इच्छा शीघ्र ही दूसरे को नीचा दिखाकर स्वयं उत्तम दिखने की प्रवृत्ति बन जाती है। यह प्रवृत्ति आज खेलों तक में घर कर चुकी है। खेल विशुद्ध आनन्द और अपनी बौद्धिक व शारीरिक क्षमता बढ़ाने के लिए खेले जाते हैं। फिर इस बात का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि कौन जीतता है और कौन हारता है। परन्तु हम देखते हैं कि वहाँ भी वातावरण सौहार्दपूर्ण नहीं रह पाता। उचित या अनुचित ढंग से जीतने की इच्छा, क्रीड़ा-जगत् को विषाक्त करने लगी है। यदि खेल-जगत् का यह हाल है, तब सीधे भौतिक स्वार्थ वाले दूसरे क्षेत्रों के विषय में कहना ही व्यर्थ है। पश्चिम के अनुसार यह प्रतिस्पर्धा 'जीवन स्तर के उन्नयन' का एक ढंग है।

विषाक्त स्पर्धा

पश्चिम के सुख की अवधारणा पूर्णतया इन्द्रियजन्य इच्छाओं की संतुष्टि पर ही केन्द्रित है, अतः उनके 'जीवन स्तर को उठाने' का अर्थ भी केवल भौतिक आनन्द की वस्तुओं को अधिकाधिक जुटाना है। इससे व्यक्ति अन्य विचारों व एषणाओं को छोड़कर केवल इसी में पूर्णतया संलग्न हो जाता है। भौतिक सुख-साधनों की प्राप्ति की इच्छा धन-संग्रह को जन्म देती है। अधिकाधिक धन-प्राप्ति-हेतु शक्ति आवश्यक हो जाती है। किन्तु भौतिक सुख की अतृप्त क्षुधा व्यक्ति को अपनी राष्ट्रीय सीमाओं तक ही नहीं रुकने देती। सबल राष्ट्र राज्यशक्ति के आधार पर दूसरों के दमन व शोषण का भी प्रयास करते हैं, जिससे उनकी तिजोरियाँ भर सकें। इसमें से संघर्ष व विनाश का जन्म होता है। एक बार यह प्रक्रिया आरम्भ हुई कि समाप्त होने का नाम ही नहीं लेती। सभी नैतिक बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं। सामान्य मानवीय संवेदनाएँ सूख जाती हैं। मनुष्य और पशु में अन्तर स्थापित करने वाले मूल्य एवं गुण समाप्त हो जाते हैं। मानव-पतन की इसी प्रक्रिया को प्रतिस्पर्धा एवं जीवनस्तरोन्नयन जैसे आकर्षक शब्दों का परिधान पहनाया जाता है।

बोलते उदाहरण

अमरीकी राष्ट्र का उद्भव इन्हीं अमानवीय क्रिया-कलापों की भयानक याद दिलाता है। यूरोप के अनेक व्यक्ति भौतिक सुख-सम्पदा की खोज में इस भूभाग में आकर बसे। इस प्रक्रिया में उन्होंने वहाँ के मूलनिवासियों का समूल उच्छेदन कर दिया। तथाकथित श्वेत सभ्यों द्वारा किए गए बर्बर उत्पीड़न एवं पाशविक नरसंहार पढ़कर ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मूल रेड इण्डियन कुछ क्षेत्रों में

अपने को जीवित बचा सके, वे सिर्फ दिखाने के, नमूने भर के हैं। अमरीका ही इसका एक मात्र उदाहरण नहीं है। आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमरीका आदि जहाँ कहीं भी ये पश्चिमी श्वेत लोग गए, वहीं अपने पीछे हत्या एवं विनाश की शृंखला छोड़ गये।

साम्यवादी रूस और चीन की साम्राज्यवादी कहानी भी ऐसी ही है। भिन्न-शब्दावली के आवरण में उनकी समस्त योजनाओं का लक्ष्य जीवन स्तर का उन्नयन है। परिणामस्वरूप वही प्रक्रिया यहाँ भी चालू है। भौतिक साधनों का एकत्रीकरण और इसकी पूर्ति-हेतु अधिकाधिक संपत्ति-संचय, दुर्बल राष्ट्रों पर अतिक्रमण, शोषण व नर-संहार द्वारा अमानवीय भावनाओं के सहारे शक्ति-संवर्धन का खेल खेला जाता है।

यदि हम आज के तथाकथित सभ्य और आधुनिक समाजों के लक्षणों का निरपेक्ष भाव से अवलोकन करें, तो 'श्रीमद्भगवद्गीता' में वर्णित असुरों के लक्षणों से शब्दशः समानता परिलक्षित होगी। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक पश्चिमी समाज की दो प्रमुख विशेषताओं, उन्मुक्तता व प्रतिस्पर्धा, ने मानवता को सुख और शान्ति से कोसों दूर ढकेल दिया है। (श्री गु.स. खं-११ -पृ. १३ से १५)

जीवन-शरिता के तटबन्ध

हमारे राष्ट्रीय जीवन का लाखों वर्षों का अनुभव कहता है कि अनन्त इन्द्रियसुख की कामना और इसकी तृप्ति हेतु उन्मादी प्रतिस्पर्धा कभी भी सुख-प्राप्ति का साधन नहीं हो सकती। इसने हमें व्यक्ति-विकास एवं समाज के ताने-बाने की सुरक्षा के लिए आत्मसंयम की साधना का पाठ पढ़ाया है। आत्मसंयम की भावना की जागृति के लिए चतुर्दिक पुरुषार्थ की अवधारणा की गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का यह चतुर्विध लक्ष्य आत्म-संयम, सन्तुलन और समरसता से पूर्ण जीवन जीने में सहायक होता है। यह व्यवस्था हमें व्यक्ति व समाज के प्रति अपने कर्तव्य एवं दायित्व का निरंतर बोध कराती रहती है। 'धर्म' अर्थात् व्यवहार संहिता वह प्रेरक तत्त्व है, 'जो जीवन के सभी उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त करने के लिए हमारा मार्गदर्शन करता है तथा जीवन के सभी भौतिक पक्षों - अर्थ (राजनीति एवं अर्थशास्त्र) और काम (भौतिक इच्छाओं की पूर्ति) पर अंकुश रखता है।'

(श्री गु.स.ख. ११ पृ. १६)

इन आचार संहिताओं की भाव-भावना का उत्कृष्ट लक्ष्य अर्थात् हमारे अस्तित्व की वस्तुस्थिति अथवा पुरुषार्थ का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने की सर्वोच्च आकाँक्षा उत्पन्न करना है। इस प्रकार हमारी सभी प्रवृत्तियाँ और विषय-भोग एक ओर धर्म तथा दूसरी ओर मोक्ष के बीच सधे हुए हैं। जैसे दोनों तटों के बीच बहती नदी जीवनदायिनी होती है, परन्तु उनका उल्लंघन करते ही वह विनाशकारी हो जाती है, ठीक यही स्थिति मानव जीवन के प्रवाह की है। धर्म और मोक्ष के बीच बहता जीवन-प्रवाह व्यक्ति व समाज दोनों के लिए सुखदायी होता है। दोनों सीमाओं के बीच जो कुछ भी अनुभूति प्राप्त होती है, उसका आनन्द सभी उठा सकते हैं। यही व्यवस्था मन की शान्ति व जीवनोपभोग के बीच सन्तुलन स्थापित कर सकती है और अन्ततः व्यक्ति को उच्चतम आनन्द की भूमिका में आरूढ़ कर सकती है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा अंगीकृत हिन्दू-संगठन का कार्य सम्पूर्ण मानवजाति के लिए परमानन्द के द्वार उद्घाटित करने के इसी आकाँक्षा से प्रेरित है। हमें विश्वास है कि समय की धारा

के साथ तथाकथित प्रगतिशील- आधुनिक समाज इस पवित्र भूमि के पुरातन तथा जीवन्त तत्त्वज्ञान की शरण में आने को बाध्य होंगे। शास्त्र का कथन है-

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।

न गर्जति महातेजा यावद् वेदान्तकेसरी ।।

(अन्य मतवादों के शृगाल तभी तक कोलाहल करते हैं, जब तक वेदान्त के महा तेजस्वी सिंह की गर्जना सुनाई नहीं देती)

(श्री गु.स.खं ११ पृष्ठ १६,२०)

ब) साम्यवाद (कम्युनिज्म)

व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद के उदय के आसपास यन्त्र-युग का भी आरम्भ हो चुका था। उद्योगों का पनपना आरम्भ हो गया। विज्ञान एवं तकनीकी ने उद्योगपतियों को अधिकाधिक बड़े यन्त्र लगाने में सहायता करना आरम्भ कर दिया। बड़े परिमाण में उत्पादन करने वाली उन मशीनों पर लाखों मजदूर नियुक्त हो गये। 'समान अवसर' के घोष के आधार पर अधिक बुद्धि और धन से सम्पन्न व्यक्तियों ने सम्पत्ति के उत्पादन के उन सभी नवीन साधनों पर एकाधिकार कर लिया और वही एकमात्र आर्थिक सर्वाधिपति बन गए। अपने प्रचुर धन की शक्ति से उन्होंने राजनीतिक तन्त्र को भी अपने अधिकार में कर लिया। सामान्य व्यक्ति केवल वोट देने के राजनैतिक अधिकार को प्राप्त करके सूखा का सूखा ही बना रहा। असह्य आर्थिक परिस्थितियों में पिसता हुआ वह वोट के अपने अधिकार को भी उपयोग में लाने के लिए स्वाधीन नहीं रहा।

इस प्रकार 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' की ऊँची कल्पना का अर्थ रह गया कुछ धीमानों की स्वतंत्रता। ताकि वे शेष सामान्य जनता का उपयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर, उसे दीन-हीन तथा दास बनाए रखें। उन कारखानों में मजदूरी करने वाले स्त्री, पुरुष और बालकों की भयंकर दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वे अब पुरानों के स्थान पर नये अत्याचारियों के पैरों के नीचे दबे हुए कराह रहे थे।

दूसरी प्रतिक्रिया की दुर्बलि

इस अवस्था में पूँजीवाद की नवीन क्रूरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में 'कम्युनिज्म' आया। कम्युनिज्म यह मानकर चला कि औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप भयंकर आर्थिक असमानता का निर्माण होना अवश्यभावी है, जिससे दो वर्गों का निर्माण होगा- 'पूँजीपति' और अकिंचन मजदूर 'सर्वहारा'। कम्युनिज्म में आगे की कल्पना यह की गई कि इन दोनों श्रेणियों में वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ होगा तथा अन्त में श्रमिक वर्ग विजयी होगा। इसके पश्चात् जनता के दैन्य का अवसान हो जाएगा। क्योंकि श्रमिक वर्ग द्वारा संचालित शासन, सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण के सभी साधनों का नियमन करता हुआ, जनता की भौतिक आवश्यकताओं की देख-रेख का सम्पूर्ण भार वहन कर लेगा। इस प्रकार यह भविष्यवाणी की गई कि देश का जितना अधिक औद्योगीकरण होगा, उतनी ही आर्थिक असमानता में वृद्धि होगी और इसलिए तीव्रतर वर्गसंघर्ष तथा उसके परिणाम-स्वरूप श्रमिक-शासन का उदय होगा।

किन्तु इस भविष्यवाणी को जो उनके इतिहास के भौतिकवादी भाष्य की पराकाष्ठा थी, इतिहास के भावी क्रम ने पूर्णरूपेण असत्य कर दिया। सब देशों में औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक पिछड़ा हुआ देश रूस ही था, जहाँ कम्युनिस्ट क्रान्ति की सफलता सबसे पहले देखी गई। आज तक अमेरिका, इंग्लैण्ड तथा जर्मनी ने जो कि औद्योगिक विकास में अग्रणी थे वास्तव में जहाँ सबसे पहले औद्योगिक क्रान्ति की रूपरेखा बनी थी-कम्युनिज्म की ओर बढ़ने के कोई लक्षण प्रकट नहीं किए हैं। इसके विपरीत, जहाँ वह पुनः प्रकट हुई वह औद्योगिक रूप से एक अन्य पिछड़ा हुआ देश चीन था, जो अभी ही कुछ वर्षों से कम्युनिस्ट हो गया है। इस प्रकार मानव-इतिहास के भौतिकवादी भाष्य के आधार पर कम्युनिज्म की ऐतिहासिक अनिवार्यता का दावा वास्तविकताओं की कठोर चट्टान पर चूर-चूर हो गया है।

प्रश्न है कि स्वाधीनता, शान्ति एवं सम्पन्नता के उस आश्वस्त देश में सामान्य जन की दशा क्या है? इन देशों में श्रमिक के अधिकार शासन में एकाधिकार रखने वाले दल अर्थात् कम्युनिस्ट दल के एकाधिपति के हाथों में पहुँच गए हैं। सामूहिक नरसंहार, दास बंदीगृह, कम्यून, बलात् श्रम, मस्तिष्कमार्जन तथा एकाधिपत्य के सभी अमानवीय यन्त्रों ने व्यक्ति को दैन्य एवं दास्य की इतनी निम्न अवस्था तक पहुँचा दिया है, जितना कि अनियन्त्रित राजसत्ता अथवा पूँजीवादी के निकृष्टतम समय में भी नहीं सुना गया था। इस प्रकार जनसाधारण के लिए उनके उस आह्वान का कि 'मजदूरों तुम्हें बंधन छोड़कर अन्य कुछ नहीं गँवाना' का वास्तविक व्यवहार में यह परिणाम निकला।

प्रतिज्ञा और कृति

क्या वे जनता से की गई अपनी प्रथम प्रतिज्ञा के अनुसार समाज की प्रारम्भिक भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करने के अपने लक्ष्य में सफल हुए? रूस का उदाहरण लीजिये; जो पूर्ण रीति से इस सिद्धान्त पर प्रयोग करनेवाला प्रथम महान देश है। उन्होंने सभी व्यक्तिगत सम्पत्ति और सभी उद्योगपतियों को समाप्त कर दिया तथा सभी उद्योगों को अपने अधिकार में ले लिया। कृषि के मोर्चे पर भी उन्होंने सभी जमींदारों और किसानों को मिटा दिया और उनकी कृषि का कम्यून तथा सामूहिक फार्मों में एकीकरण कर दिया। यह एक पूर्ण प्रयोग था। स्वाभाविकतः गत पचास वर्षों में रूस की समृद्धि में महती उन्नति की आशा करना उचित ही था किन्तु क्या वह पूर्ण हुई?

कुछ लोगों का कथन है कि 'देखो, उनमें चन्द्रमा पर राकेट भेजने का सामर्थ्य आ गया है।' किन्तु जहाँ तक सामान्य जन का सम्बन्ध है, जिसके नाम पर वे बड़ी-बड़ी भविष्यवाणियाँ करते हैं, चन्द्रमा पर जाना उनकी मुख्य समस्या नहीं है। पेट उनकी सबसे बड़ी समस्या है। वास्तव में कम्युनिस्ट क्रान्ति की मुख्य धुरी यही थी। प्रथम प्रश्न यह है कि क्या रूसी प्रशासन अपने देशवासियों को दोनों समय भरपेट भोजन देने में समर्थ हुआ? वास्तव में किसी भी प्रशासन अथवा किसी प्रशासनिक सिद्धान्त की सफलता को इन्हीं मूल्यों पर नापा जाना चाहिये कि उसमें अपने प्रत्येक नागरिक को दोनों समय भर पेट भोजन, आश्रय के लिए स्थान, पर्याप्त वस्त्र, रुग्णावस्था के समय चिकित्सा तथा शिक्षा देने की कितनी क्षमता है? इसी से उसकी अग्नि-परीक्षा होती है। क्या रूस इस परीक्षा का उत्तर दे सका?

रूस के पास एक विस्तृत भू-प्रदेश है। एक समय वह संसार में सर्वाधिक गेहूँ उत्पन्न करने वाला देश था। इस सबके अनुपात में वहाँ की जनसंख्या न्यून होने से उसके पास भोजन करने वाले

मुख भी कम ही हैं। उसके पास कृषि के सभी आधुनिक उपकरण हैं। इस सबके साथ उसकी प्रत्येक योजना के पीछे शक्तिसम्पन्न राज्य के विशाल साधन हैं। यह सब होते हुए भी रूसी सरकार को गेहूँ तथा अन्य खाद्यों का प्रत्यक्ष आयात कनाडा, अमेरिका तथा अन्य देशों से करना पड़ा। कम्युनिज्म की परिपूर्ण पराजय का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है?

दोनों का अपक्रमण

इस प्रकार के दुष्परिणाम देखकर कम्युनिस्ट देश अपनी पूर्ण सरकारीकरण की पद्धति के विषय में फिर से विचार करने लगे हैं। उन्हें यह अनुभव होने लगा है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता का विनाश व्यक्ति की क्रियात्मक शक्ति एवं कार्य के लिए उत्साह का हनन कर देता है। अतः वे व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की दिशा में शनैः-शनैः बढ़ रहे हैं। पूर्वी यूरोप के कुछ कम्युनिस्ट देशों और रूस में भी उन्हें विवश होकर व्यक्ति को उसकी कुछ वस्तुओं पर स्वामित्व रखने और अपनी सम्पत्ति के उपभोग की आंशिक स्वतंत्रता की अनुमति देनी पड़ी है।

अमेरिका के चेस्टर बॉल्स का कथन है- 'रूस में कृषकों को 'किचनफार्म' (बाड़ी अथवा रसोईघर से लगा जमीन का टुकड़ा) को व्यक्तिगत रूप से जोतने की अनुमति दी जा रही है। यह कृषिक्षेत्र उनकी कुल जोत का ३४ प्रतिशत के लगभग होता है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस ३४ प्रतिशत व्यक्तिगत जोत द्वारा किया गया उत्पादन कुल उत्पादन का ६० प्रतिशत है। जबकि ६६ प्रतिशत भूमि के सरकारी कृषिक्षेत्र से केवल ४० प्रतिशत पैदावार ही हुई है। स्मरणीय यह है कि इस व्यक्तिगत जोत को उन बड़े-बड़े यन्त्रों का लाभ भी नहीं मिल सका जिन पर राज्य का एकाधिकार है। इससे यह बात एक बार पुनः सिद्ध हो गई कि पूर्ण सरकारीकरण अथवा सम्पूर्ण समूहवाद की भूमिका जिससे उन्होंने आरम्भ किया था, अपने जन्मस्थान में ही शीघ्रता से पीछे हट रही है।

दूसरी ओर वे देश भी जहाँ पूर्ण व्यक्तिवाद की भूमिका के साथ जनतन्त्र पैदा हुआ था, अपनी मूल धारणा से पीछे हट गए हैं। जब उन्होंने असंयमित 'समान अवसर' और 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' के दुष्परिणामों को देखा तो समाज के समान हित में वे उन सैद्धान्तिक कल्पनाओं को प्रत्यक्ष व्यवहार में सीमित करने के लिए कठोर साधन अपनाने को बाध्य हो गये। वास्तव में इसी प्रकार वे क्रान्ति से अपने को बचा पाये और अपने जनतान्त्रिक ढाँचे को बनाए रखने में सफल हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊपर के दोनों ही सिद्धान्तों, व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद और कम्युनिज्म में दो चीजें समान हैं। दोनों ही पूर्व व्यवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए और दोनों ही को अपने-अपने मूल आधार से पूर्व स्थिति की ओर लौटना पड़ा एवं एक-दूसरे की ओर चलने के लिए बाध्य होना पड़ा। जनतन्त्र को अपने व्यक्तिवाद से समूहवाद की ओर तथा कम्युनिज्म को अपने समूहवाद से व्यक्तिवाद की ओर। जन्म और विकास की दृष्टि से दोनों ही में एक महत्त्वपूर्ण समानता है, यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से उनके प्रारम्भ-बिन्दु परस्पर विरोधी थे।

एक ही मूल से उत्पन्न

इसमें हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये क्योंकि और भी गहराई में जाने से हम पाते हैं कि दोनों ही की उत्पत्ति मानव-जीवन के लक्ष्य की एक ही कल्पना में से हुई है। पाश्चात्य विचार के अनुसार जनतन्त्र और कम्युनिज्म दोनों ही कल्पनाओं ने जिससे जन्म लिया है - अथवा व्यक्ति

स्वातंत्र्यवाद वह है उस मानव का जीवन भौतिक स्तर तक ही सीमित मानना और मानव भौतिक तृष्णाओं का एक गट्टर मात्र है ऐसा समझना। तदनुसार, मनुष्य की भौतिक तृष्णा का समाधान करने वाले पदार्थों का उत्पादन और वितरण ही उनके सभी सिद्धान्तों का सर्वोपरि प्रेरक आवेग हो गया। मानव समानता का प्रतिपादन भी भौतिक आधार पर ही किया गया। क्योंकि सभी मनुष्यों को प्राथमिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की आवश्यकता सदैव समान भाव से अनुभव होती रही है।

व्यक्ति एक भौतिक सत्ता मात्र होने के कारण तथा उन्हीं भौतिक आकांक्षाओं से प्रेरित होने के फलस्वरूप कोई कारण नहीं था कि वह समाज को उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के अतिरिक्त कुछ और मानें। किन्तु ऐसे व्यक्तियों से बने समाज से जिसमें व्यक्ति सम्पूर्णरूप से अपने ही स्वार्थ-साधन में जुटा हो, एक दिन भी टिकने की आशा नहीं की जा सकती। समाज अपने पोषण के लिए अपने घटकों से बलिदान की भावना की अपेक्षा करता है और बिना समाज के व्यक्ति अपने भौतिक अस्तित्व को नहीं टिका सकता। अतः व्यक्ति और समाज के टकराते हुए हितों के बीच एक प्रकार का समझौता, एक प्रसंविदा कर लेना आवश्यक था।

यह समझौता किंवा 'प्रसंविदा-सिद्धान्त' (कांटेक्ट थ्योरी) व्यक्ति और समाज के बीच अन्तर्निहित सहज संघर्ष की धारणा का परिणाम है। इसी मूलभूत संघर्ष ने अपने को एक ओर तो पूँजीवाद के स्वरूप में और दूसरी ओर कम्युनिज्म के स्वरूप में व्यक्त किया। अर्थात् एक में व्यक्ति समाज का शत्रु हो रहा है तो दूसरे में समाज व्यक्ति का। जैसा कि हम देख चुके हैं अब दोनों ही पद्धतियाँ उन बुराइयों को कम करने का प्रयास कर रही हैं, जो उनकी मानव-लक्ष्य की समान भौतिक कल्पना से निकली हैं।

भौतिकवाद अक्षफल

किन्तु केवल भौतिक तृष्णाओं के गट्टर के रूप में मनुष्य का निरूपण करना उसे पशु की समानता देना है। यदि मनुष्य एक पशु ही है तो वह स्नेहशील एवं व्यवस्थित जीवन क्यों व्यतीत करे? इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि पशुओं के समान मनुष्य एक दूसरे का शिकार केवल इसी कारण नहीं करता कि यदि 'क', 'ख' को खा जाना चाहता है तो कोई 'घ', 'क' को खा डालने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार आपस में एक दूसरे के द्वारा विनष्ट होने से अपने को बचाने के लिए किसी प्रकार की व्यवस्था या समझौता होना आवश्यक हो जाता है।

(श्री गु. स. खं. ११ पृष्ठ २१ से २६)

2. हिन्दू समाज व्यवस्था

अच्छी समाजरचना कौनसी हो सकती है? अर्थात् ऐसी व्यवस्था प्रतिक्रिया रूप नहीं अपितु भावात्मक कल्पना एवं वास्तविकता पर आधारित होनी चाहिए।

व्यक्ति स्वातंत्र्य और समूहीकरण का सामंजस्य

समाज एक जीवमान इकाई है। मानव, जीवसृष्टि का सबसे अधिक विकसित रूप है। हमारे धर्म में ही नहीं, तो अन्य धर्मों में भी मनुष्य को भगवान् का स्वरूप कहा गया है। उसकी शरीर रचना जीव के विकास का सर्वोत्तम रूप है। इस लिये यदि किसी जीवमान समाज स्वरूप की रचना करनी हो तो वह उसके ही अनुरूप होनी चाहिए। नगररचना के आधुनिक तज्ञ तो नगरनिर्माण भी इसी के अनुरूप करना चाहते हैं। समाजजीवन की रचना भी यदि जीवमान मानव के अनुरूप ही की, तो वह भी निसर्ग के अनुकूल होने के कारण अधिक उपयुक्त होगी। मनुष्य के अवयव समान तो नहीं होते, किंतु परस्परानुकूल रहते हैं। वे अपने-अपने स्थान पर अपने-योग्य कर्तव्य का निर्वाह करते रहते हैं। अतः समाज की ऐसी रचना ही अधिक टिकाऊ होगी जहाँ समान गुण एवं समान अंतःकरणवाले एकत्र आकर विकास करते हुए जीवन-यापन करने के जिस मार्ग से अधिक समाजोपयोगी सिद्ध हो सकें, उसके अनुसार चल सकें। साथ ही एकाध समूह ऐसा भी चाहिये जो संपूर्ण समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की पात्रता उत्पन्न कर उनके पारस्परिक संबंधों को ठीक बनाये रखता हो। शरीर के अवयवों की भाँति समाजरूपी जीवमान इकाई के अंगों की आवश्यकता समझता हो, परन्तु स्वयं अपनी कोई आवश्यकता न रखता हो। ऐसा समूह ही सबको एकसूत्र में चलाने की पात्रता रख सकता है।

एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी व्यक्ति में समानता भी रहती है। हमें इन दोनों गुणों का इस प्रकार सामंजस्य करना होगा कि उसके व्यक्तित्व का विकास तो हो, किन्तु वह विकास उसके सामूहिक जीवन का हितविरोधी न बने। वैसे ही समानताजन्य एकीकरण, व्यक्ति की विशेषताओं के विकास का मार्ग प्रशस्त करे, उसके विनाश का कारण न बने। अतः समान गुणधर्मवाले व्यक्तियों के समूह बनाकर समूह के रूप में उन्हें स्वतंत्रता दी जाए, जिससे वे समाज की भलाई के लिये प्रयत्नशील हो। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह भी आवश्यक हो कि वह समूह के नाते ही खड़ा हो। यह व्यवस्था चाहे मानव की अंतिम अवस्था हो या सीढ़ी, किन्तु यही यथार्थ है। अखिल मानव को इस पद्धति का पालन करना होगा। दुनिया के लोगों ने जो प्रयोग किये हैं, वे भी धीरे-धीरे व्यक्तिस्वातंत्र्य और सामूहीकरण के सामंजस्य की आवश्यक्ता का अनुभव करने लगे हैं। वैज्ञानिक आधार पर इससे उत्कृष्ट सामंजस्य की व्यवस्था और कोई नहीं हो सकती।

इस प्रकार विचार करने पर, मानव समाज को सुखी रखने के लिये अपनी वर्णव्यवस्था सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होती है। किन्तु आज जातिवाद (Casteism) कह कर इस का उपहास किया जाता है। कई लोग इसे व्यवस्था न कह कर भेद समझने लगते हैं। इसमें ऊँच-नीच का जो भाव आ गया है,

वह भी ठीक नहीं है। वास्तव में इस प्रकार कर्मों की भिन्नता न तो समाज के भिन्न-भिन्न लोगों में किसी भेद की सृष्टि करती है और न ही किसी को छोटा-बड़ा या ऊँच-नीच बनाती है। गीता में तो कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने नियोजित कर्म को करता है, वह उसी के द्वारा परमात्मा की उपासना करता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धं लभते नरः।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(गीता १८-४५)

यदि ज्ञानदान से ब्राह्मण श्रेष्ठ बनता है, तो क्षत्रिय शत्रु-संहार कर उतना ही श्रेष्ठ है। वैश्य जो कृषि व्यवसाय करते हुए समाज का पोषण करता है तथा शूद्र जो अपनी शिल्पकुशलता एवं श्रम से समाज की सेवा करता है, श्रेष्ठत्व में किसी से कम नहीं माने गये। सब एक समाजपुरुष के अंग के रूप में परस्पराणुकूल चले, समाजरचना करनेवाले हमारे चिंतकों का यही भाव है। फिर भी यह पृथकता की भावना कैसे आ गई यह आश्चर्य की बात है। हमारे यहाँ तो इस भाव को व्यक्त करनेवाला शब्द भी नहीं है। ईसाई या मुस्लिम समुदायों ने यह अवश्य कहा है कि जो हमारे मत पर विश्वास नहीं करेगा, उसे स्वर्ग में स्थान नहीं मिलेगा। परंतु हमने इस प्रकार की पृथकता का कभी विचार भी नहीं किया। अतः आज जो ऊँच-नीच तथा भेद का भाव प्रसृत किया जा रहा है, अपनी वर्णव्यवस्था के परिणाम नहीं है, अपितु उस व्यवस्था के आधारभूत जीवन-सिद्धांतों के विस्मरण के कारण उसमें उत्पन्न घोर विकृति है। हमें इसे दूर करना होगा।

(श्री गु.स.खं २ पृष्ठ १२५-२६)

जातिव्यवस्था

सत्य और सब प्रकार के सद्गुणों का भोक्ता, अन्य मानव को अपने ही जीवन का अंग मान कर चलनेवाला, उनके सुख-दुःख में सहभागी होनेवाला, मानव का यह अनोखा और अलौकिक चित्र हमारी संस्कृति ने लक्ष्य की दृष्टि से अपने सामने रखा है और लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि से अपने यहाँ एक विशेष प्रकार की समाज-रचना भी की गई है। इस समाज-रचना को लोग भला-बुरा कहा करते हैं। परंतु गहराई से विचार करनेवालों को उसकी शास्त्रीयता और श्रेष्ठता को मानना ही पड़ेगा।

मनुष्य ने चौबीसों घंटे पेट के लिए ही दौड़ना क्या? न पाले हुए कुत्ते रोटी के टुकड़े के लिये द्वार-द्वार पर घूमते हैं। उसी प्रकार आज पढ़े-लिखे लोग भी नौकरी की खोज में दिखाई देते हैं। जीवन क्या इसीलिये है? सदा-सर्वदा पेट की चिंता, परिवार की चिंता, कल क्या होगा इसका विश्वास नहीं, ऐसी अवस्था में जीवन का लक्ष्य कैसे प्राप्त होगा? बड़े लोग कहते हैं कि -‘टेक नो थॉट ऑफ द मॉरो’ लेकिन सामान्य व्यक्ति के लिये यह कैसे संभव है? अपने पूर्वज बड़े व्यवहारिक थे। सामान्य मनुष्य की कामना, वासना आदि का विचार करके उसको अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाने की कल्पना उनके सामने थी। इसलिये सामान्य मनुष्य को ऐहिक उदर-भरण के बाद उपासना के लिये निश्चित अवकाश मिलना चाहिये, यह उन्होंने समझा और ऐसी व्यवस्था की कि जन्म पाते ही मनुष्य

की रोजी निश्चित हो जाए। उसके लिये व्यक्ति ने परंपरा से प्राप्त व्यवसाय के लिये योग्य बनना और परिवार का पोषण करना इतना ही आवश्यक था। ऐसे भिन्न-भिन्न व्यवसाय के लोगों को उन्होंने एकत्रित किया और जाति-व्यवस्था के रूप मानो 'नेशनल इंड्योरेंस स्कीम बिदाउट गव्हर्नमेंटल इंटरफीयरेंस' निर्माण की। आजकल जाति-व्यवस्था टूट जाने से ये 'सोशल इंड्योरेंस' की स्कीम भी नष्ट हो गई है। अपने यहाँ 'कास्ट रिडन सोसायटी' है ऐसा कहा जाता है। लेकिन आजकल वैसा दिखता तो नहीं। यहाँ की व्यवस्था में धंधा खोजने की या युवर मोस्ट ओबिडियंट सर्व्हेट' बन कर नौकरी की तलाश में द्वार-द्वार घूमने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। अपने जन्म-सिद्ध व्यवसाय से परिवार का पोषण करना और आनंद से शांत चित्त होकर परम-तत्त्व का चिंतन और सद्गुणों का आवाहन करना, यह हो सकता था। बड़े-बड़े प्रगतशील देशों में भी ऐसी रचना नहीं है। कारण उनका लक्ष्य केवल ऐहिक है। खाना-पीना और सुख से सोना यही उनका लक्ष्य होने के कारण, और यह जीवन प्रायः पशु के समान ही होने के कारण मानव को पशु-समान बनानेवाली रचना उन्होंने की, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

पशुभाव से देवत्व की झोर

पशुभाव से ऊँचा उठते समय सब लोग एकदम समान ऊँचाई पर नहीं जा सकते, लेकिन प्रत्येक को ऊँचाई तक जाने का विश्वास, आशा, आकांक्षा और निश्चय रहे इसलिये भिन्न-भिन्न स्थानों पर लोगों को खड़ा करने की दृष्टि से रचना की गई। आखिर, जैसा लक्ष्य होता है वैसी रचना भी होती है। आज भी अपने यहाँ जो लोग समानता की या अन्य बात की घोषणा करते हैं, उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बदल दिया है। चरम लक्ष्य पेट भरना और ऐहिक सुखों का उपभोग लेना यहाँ तक ही सीमित हो गया है। इसलिये विशिष्ट प्रकार के भिन्न-भिन्न नारे और घोषणाएँ उत्पन्न हुईं। यदि राष्ट्रजीवन का तात्त्विक अधिष्ठान, यह अपना लक्ष्य स्थिर रहता है तो सारे दोष, विच्छिन्नता की भावना आदि को नष्ट करके स्नेहपूर्ण सहकार्य की स्थिति निर्माण करने का प्रयत्न होता।

मेरे परिचय के एक साधु हैं। उन्होंने विदेश में भी प्रवास किया है। अमेरिका में एक व्यक्ति ने उनसे कहा कि हिंदू लोग ढीली-ढाली धोती पहनते हैं, यदि मार-पीट का प्रसंग आया तो क्या करेंगे? उस साधु ने उत्तर दिया, 'हू टोल्ड यू वी आर ड्रेसिंग फॉर ए क्वारल अॅन्ड स्ट्रगल? सब जगत् में सुख है, शांति है, समाधान है, बंधुत्व है ऐसा सोच कर हम चलते हैं। तुम लोग तो आस्तीन चढ़ाकर मारपीट के लिये हिंस्र पशु के समान तुले रहते हो और सड़क के कुत्ते के समान सब दूर भौंकते रहते हो। उसी के अनुसार तुम्हारा वेष भी है।' इसका अर्थ यही है कि जीवन का जो लक्ष्य होता है उसके अनुसार ही सब होगा। समाज की व्यवस्था भी उसी के अनुसार रहेगी। इसी दृष्टि से हमारा अपना जीवन बना है। (श्री गु.स.खं २, पृष्ठ २३२-३४)

विकास के लक्षण

अब हम अपने हिन्दू-जीवन पर एक दृष्टिपात करें। जब लोग, विशेष रूप से बाहरी लोग, हमारे विश्वासों, सम्प्रदायों, जातियों, भाषाओं, रीति-रिवाजों एवं स्वभावगत् विविधताओं के बाहुल्य को देखते हैं तो वे भ्रम में पड़ जाते हैं और कह उठते हैं कि "इन सब भाँति-भाँति के तत्त्वों तथा

असंगत स्वरोँ से युक्त समूह को किस प्रकार एक समाज कहा जा सकता है? कहाँ है एक जीवनपद्धति जिसे तुम 'हिन्दू' कहते हो।

यह प्रश्न हिन्दू-जीवन के बाह्य दृश्य स्वरूप से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ एक वृक्ष को लीजिये, जिसमें शाखाएँ, पत्तियाँ, फूल और फल ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार के उसके कई भाग होते हैं। तने में शाखाओं से अन्तर होता है और शाखाओं में पत्तियों से -सभी कुछ एक दूसरे से नितान्त विभिन्न। किन्तु हम जानते हैं कि ये सब दिखनेवाली विविधताएँ केवल मात्र उस वृक्ष की भाँति-भाँति की अभिव्यक्तियाँ हैं, जब कि उसके सभी अंगों को पोषित करता हुआ एक ही रस प्रवाहित हो रहा है। यही बात हमारे सामाजिक जीवन की विविधताओं के सम्बन्ध में भी है, जो इन सहस्रों वर्षों में विकसित हुई हैं। जिस प्रकार वृक्ष में फूल और पत्तियों का विकसन उसका विभेद नहीं, उसी प्रकार हिन्दू समाज की विविधताएँ भी आपसी विघटन नहीं हैं। इस प्रकार का नैसर्गिक विकास हमारे समाज-जीवन का अद्वितीय स्वरूप है।

वास्तव में प्रकृति की योजना में जीवन के विकास के इसी प्रतिमान का अनुसरण किया गया है। प्राणी अपनी आदिम अवस्था में आकारहीन दशा में रहता है, जिसे 'अमीबा' कहा जाता है। यह 'सेल' का एक कोशीय सावयव शरीर होता है, जो अपने में पूर्ण होता है। यह दो समान रूपों में विभक्त किया जा सकता है। जीव पदार्थ की यह प्राथमिक अवस्था होती है जो विकास के निम्नतम सोपान पर स्थित होता है। जैसे-जैसे विकास में प्रगति होती है, भाँति-भाँति के जीवों की जातियाँ बनने लगती हैं। बढ़ती हुई क्रियाओं को पूर्ण करने के लिए उनके विविध अंग होते हैं। अन्त में मनुष्य शरीर बनता है, जो अनेक अंगों से संगठित एक अत्यन्त संश्लिष्ट यन्त्र है। जिसका प्रत्येक अंग अपनी विशिष्ट क्रिया से युक्त है। फिर भी वे सभी एक सामान्य जीवनधारा के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। पृथ्वी पर जीव का उच्चतम विकसित आकार यही है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न अंग अथवा विविधताएँ अपरिपक्वता अथवा विभेद के लक्षण नहीं हैं, वरन् अति विकसित अवस्था के कारण हैं। सभी अंग, यद्यपि प्रत्यक्षरूपेण विविध आकारों के होते हैं, किन्तु सभी शरीर के कल्याण हेतु कार्य करते हैं और इस प्रकार उसकी वृद्धि तथा शक्ति में योगदान करते हैं।

अनुपम चित्र

समाज के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बात होती है। एक विकसित समाज विविध कर्तव्यों के समुचित व्यापार के लिए अनेक विभिन्न कार्यकारी वर्गों में बँट जाता है। हमारी प्राचीन समाज-व्यवस्था ने प्रत्येक वर्ग के लिए विशिष्ट कर्तव्य निर्दिष्ट किया तथा प्रत्येक व्यक्ति एवं वर्ग का उसकी नैसर्गिक विकास की दिशा में उसी प्रकार मार्गदर्शन किया जैसे बुद्धि शरीर के प्रत्येक अंग की क्रियाओं का निर्देश करती है। समष्टि अर्थात् विराट् पुरुष के प्रति श्रेष्ठतम सेवा अर्पण करने की पद्धति में व्यक्ति के विकास के लिए पूर्ण अवसर सुरक्षित था। इस प्रकार की यह अत्यन्त संश्लिष्ट एवं संगठित समाज-रचना है, जिसे हमने व्यावहारिक आदर्श के रूप में अपने समक्ष रखा था और जीवन में ही उसे उपलब्ध करने का उद्योग किया था। दूर से देखने पर यह अवस्था सम्भ्रमकारी असाध्य की अवस्था प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में यह है समाज की

अत्युच्च विकसित अवस्था जिसका अस्तित्व सम्पूर्ण संसार में शायद ही अन्यत्र कहीं रहा हो।

किन्तु आज का मस्तिष्क विदेशी वादों और उसकी समानता की बड़ी-बड़ी घोषणाओं के आडम्बर के माध्यम से ही देखने का अभ्यस्त बनकर, इस अनुपम तथ्य को पहचानने में असमर्थ हो चुका है। इसलिए चिल्लाहट मची है कि हमारे जीवन की विविधताएँ ही हमारे फूट के कारण हैं, इन्हें नष्ट करना चाहिये और एक वर्गहीन समाज की रचना करनी चाहिए। किन्तु क्या शरीर के अंग समान दिखते हैं? ये अंग अपना अलग-अलग विशिष्ट कार्य करते हैं, इसी कारण हम उन्हें अलग वर्ग के नाम से पुकारें तथा उन्हें दूर कर शरीर को वर्गविहीन वस्तु बना डालें? यदि यह किया जाए तो इसे विकास कहेंगे अथवा हत्या?

“अनेकता में एकता” का हमारा वैशिष्ट्य हमारे सामाजिक जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में व्यक्त हुआ है। यह उस एक दिव्य दीपक के समान है जो चारों ओर विविध रंगों के शीशों से ढका हुआ हो। उसके भीतर का प्रकाश दर्शक के दृष्टिकोण के अनुसार भाँति-भाँति के वर्णों एवं छायाओं में प्रकट होता है। यही उस अभिव्यक्ति की विचित्र विविधता है, जिससे कुछ लोग कहते हैं कि हमारा एक समाज नहीं है, एक राष्ट्र नहीं है। वरन् यह बहुराष्ट्रीय देश है।

यदि हम अपने समाज-जीवन के सही मूल्यांकन को ग्रहण करें तो उसकी वर्तमान व्याधियों का भी विश्लेषण कर सकेंगे तथा उनके उपचार के लिए उपायों की भी योजना करने में समर्थ होंगे।

(श्री गु.स.खण्ड पृष्ठ १०६-६)

अनेक तार, एक स्वर

हमारे राष्ट्रीय उत्तराधिकार की विविधता भाषाओं के क्षेत्र में भी व्यक्त होती है। अपने देश तथा समाज की विशालता को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि हमारे देश में कोई व्यक्ति अपने स्थान से पैदल यात्रा आरम्भ करे और एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के लिए चले तो भाषा में प्रत्येक दस-पन्द्रह मील पर क्रमिक परिवर्तन, एक भाषा से दूसरी भाषा में एक स्वाभाविक रूपान्तर वह अनुभव करेगा तथा सीमा पर उन भाषाओं को एकीभूत होते देखेगा। एक ही भाषा में स्थान-स्थान पर अन्य भाषाओं की निकटता के कारण शब्दों के प्रयोग एवं अभिव्यक्ति में असामान्य अन्तर हो जाता है। इससे यही प्रगट होता है कि ये सभी भाषाएँ आन्तरिक रूप से एक ही हैं। यह इन्द्र धनुष में क्रमशः प्रकट होने वाले रंग के समान हैं। यद्यपि वह अति देदीप्यमान विविध रंगों में उदित होता है; किन्तु वह होती तो सूर्य की किरण ही जो उन मोहक परिधानों को धारण करती है। हमारी भाषाओं की यही विशिष्ट महत्ता है।

देश की कोई भाषा लें, उसमें हमें वही उदात्त भावनाएँ मिलेंगी। समान प्रेरणादायी विचार एवं आदर्श हमारे सभी भाषाओं के वाङ्मय में प्रतिफलित होते हैं। श्री रामचन्द्र का जो श्लाघ्य व्यक्तित्व हमें वाल्मीकि के द्वारा संस्कृत में मिलता है, वही हिन्दी में तुलसी तथा तमिल में कम्ब के द्वारा प्राप्त होता है। यदि सब में से एक ही प्रकाश निकलता है तो माध्यम के परिवर्तन से क्या होता है? यह तो ठीक इसी प्रकार है जैसे कोई व्यक्ति भाँति-भाँति के सुन्दर परिधान जो उसके चरित्र एवं संस्कृति के अनुकूल हों, धारण करें। उपर्युक्त कारण से मनुष्य नहीं बदलता। (श्री गु.स.खं. ११, पृष्ठ ११८-११९)

एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति

हमारे लचीले धर्म के स्वरूप की जो प्रथम नैसर्गिक विशेषता बाहरी व्यक्ति की दृष्टि में आती है, वह है पन्थ एवं उपपन्थों की आश्चर्यजनक विविधता। यथा-शैव, वैष्णव, शाक्त, वैदिक, बौद्ध, जैन, सिख, लिंगायत, आर्य समाज आदि। इन सभी उपासनाओं के महान आचार्यों एवं प्रवर्तकों ने उपासना के विचित्र रूपों की स्थापना हमारे लोक-मस्तिष्क की विविध योग्यताओं की अनुकूलता का ध्यान रखकर ही की है। किन्तु अन्तिम निष्कर्ष के रूप में सभी ने उस एक चरम सत्य को लक्ष्य के रूप में प्राप्त करने के लिए कहा है, जिसे ब्रह्म, आत्मा, शिव, विष्णु, ईश्वर अथवा शून्य या महाशून्य तक के विविध नामों से पुकारा जाता है।

देखिए यह निम्नांकित श्लोक किस सुन्दरता से हिन्दू-दर्शन के विविध पन्थों में स्वरैक्य एवं एकत्व का समावेश करता है-

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो

बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः

सोऽयं वो विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।

(हनुमन्नाटकम् अंक 9:३)

(वह, जिसकी उपासना शैव शिव मानकर करते हैं, वेदान्ती जिसे ब्रह्म मानकर उपासते हैं, बौद्ध जिसे बुद्ध और तर्क-पटु नैयायिक कर्ता मानकर आराधना करते हैं एवं जैन लोग जिसे अर्हंत मानकर तथा मीमांसक जिसे कर्म बताकर उपासना करते हैं-वही त्रिलोकीनाथ हरि हमारी इच्छाओं को पूरा करें)।

व्यक्ति को उपासना स्वातन्त्र्य का यह अधिकार इसलिए प्राप्त था कि प्रत्येक के लिए अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक प्रकृति के अनुकूल आध्यात्मिक जीवन चुनने का स्वातंत्र्य हो। किन्तु उपासना-मार्ग की विविधताओं का अर्थ समाज का विभाजन नहीं था। एक ही धर्म के ये सभी अविभाज्य अंग समाज की धारणा करते थे। हमारे समाज के इन सभी अंगों में वही जीवन-दर्शन, वही लक्ष्य, वही बाह्य-स्थूल पर आन्तरिक आत्मा का प्रभुत्व, वही पुनर्जन्म में विश्वास, वही ब्रह्मचर्य, सत्य आदि कतिपय गुणों की पूजा, वही पवित्र संस्कार। संक्षेप में वही जीवन-रस हमारे समाज के इन अंगों में प्रवाहित होता रहा। वे शुद्ध अद्वैत के संस्थापक श्री शंकराचार्य ही थे, जिन्होंने पंचायतन पूजा का निर्देश किया। ईश्वर के साक्षात्कार हेतु विभिन्न पन्थों के स्वरैक्य का यह कितना भव्य उदाहरण है। पन्थ-विभेद के कारण हमारे देश में भूतकाल में कभी रक्तपात अथवा अपवित्र प्रतिस्पर्धा नहीं हुई। यहाँ तक कि जब किसी ने अपने मत का मण्डन अथवा दूसरों के मतों के खण्डन का प्रयास किया, तब भी सिर फुटव्वल नहीं हुई। इस आन्तरिक एकत्व की गम्भीर धारा का शिवमहिम्नः स्तोत्र में अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है-

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति

प्रभिन्नो प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति चा

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां

(जिस प्रकार सभी जलों का गंतव्य समुद्र होता है, वैसे ही है भगवान् शिव सभी मनुष्यों के तुम एक मात्र लक्ष्य हो। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार तुम्हारी पूजा के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। चाहे वह रास्ता सीधा हो या टेढ़ा। यह विचार करते हुए कि जिन विभिन्न मार्गों-जैसे वेद, सांख्य योग, शैव और वैष्णव-के विश्वासों में वही मार्ग श्रेष्ठ या पूर्ण है)।

प्राचीन वैदिक काल से लेकर आज तक हमारी यही परम्परा रही है। हमारे सभी आध्यात्मिक आचार्यों ने धर्म के इसी सर्वव्यापी अद्वितीय स्वरूप को ग्रहण किया है। रामकृष्ण परमहंस ने कहा है-‘जितने दृष्टिकोण, उतने मार्ग’-व्यक्तियों की विविध वृत्तियों एवं रुचि के अनुसार अनेक पंथ और मत हो सकते हैं।

इनमें से अनेक पन्थों एवं दर्शनों के निर्माण से एक अन्य लाभदायक उद्देश्य की भी सिद्धि हुई है। वे हमारे समाज की अखण्डता को बनाए रखने के लिए तथा उसकी रक्षा के लिए भी सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए सिख पन्थ का उदय पंजाब में इस्लाम के प्रसार को रोकने के लिए हुआ। आगे चलकर समय की आवश्यकता को समझते हुए दशम गुरु गोविन्दसिंह ने अपने शिष्यों को सशस्त्र किया तथा उन्हें राष्ट्रीय योद्धाओं के एक दल में परिवर्तित कर दिया। जब ईसाई धर्म-प्रचारक हमारे पश्चिमी समुद्र तट पर लोगों को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करने के लिए अपने निज के दयामय ईश्वर के नाम पर लोगों का अनुनय कर रहे थे, उस समय इस विदेशी विष को विफल करने के लिए हमारे धर्म के भक्ति के एक स्वरूप को लेकर श्री मध्वाचार्य का उदय हुआ। रामानुजाचार्य एवं बसवेश्वर के प्रयत्न भी समाज में प्रवेश कर रहे ऊँच-नीच के भेद को मिटाकर ईश्वर-भक्ति के सामान्य बन्ध में सभी लोगों को बाँधने के लक्ष्य से प्रेरित थे।

गलत दिशा

वर्तमान काल में हमारी समाज व्यवस्था का अधोमुखी विपर्यस्त स्वरूप देखकर तथा गलती से उसे ही हमारे समाज का मूल स्वरूप समझते हुए कुछ लोग यह प्रचार करते कभी थकते नहीं कि इतनी शताब्दियों से हमारे पतन के मूल में हमारी यह वर्णव्यवस्था ही है। किन्तु क्या यह व्याख्या इतिहाससिद्ध हो सकती है? जातियाँ तो उस प्राचीन काल में भी थीं और हमारे वैभवशाली राष्ट्र जीवन के सहस्र वर्ष में बराबर रही हैं। कहीं एक भी उदाहरण नहीं है कि उन्होंने हमारे समाज की एकता और प्रगति में बाधा डाली हो।

गत एक सहस्र वर्षों में जब हमारा राष्ट्र विदेशियों के आक्रमण का शिकार बना, एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध हो सके कि हमारे राष्ट्र की जिस फूट ने विदेशी आक्रान्ताओं को सहायता दी, उसके मूल में यह जातिभेद थे। मुहम्मद गोरी के द्वारा दिल्ली के हिन्दू राजा पृथ्वीराज की पराजय का कारण जयचन्द था, जो कि उसका जातिबन्धु था। जिस व्यक्ति ने जंगलों में राणा प्रताप का पीछा किया, वह मानसिंह भी उनकी जाति का ही व्यक्ति था। शिवाजी का विरोध उनकी जाति के ही लोगों द्वारा हुआ। सन् १८१८ में पुणे में हिन्दू और अंग्रेजों के अन्तिम मोर्चे पर पेशवा का सजातीय ‘नातु’ नाम का ही एक व्यक्ति था, जिसने हिन्दू ध्वजा को गिराकर

अंग्रेजी झंडे को फहराया था। यथार्थ में इस प्रकार के देशद्रोहियों की एक जमात रही है, जो विभिन्न कारणों से प्रलोभनों की शिकार हो जाती थी। जातिभेद कभी भी इसका कारण नहीं रहा।

यदि जातिव्यवस्था ही हमारे दौर्बल्य का मूल कारण होती तो हमारा समाज उन समाजों की तुलना में, जिनमें जातियाँ नहीं थीं, अति सरलता से विदेशी आक्रमणों के समक्ष पराभूत हो गया होता। किन्तु इतिहास कहता है कि पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् अरब से उनके अनुयायी एक के पश्चात् दूसरी लहर के समान निकल पड़े और अपनी रक्तस्नात तलवारों के साथ भू-मण्डल के एक बहुत बड़े भाग को पदाक्रान्त कर डाला। अनेकों साम्राज्य-ईरान, मिश्र, रोम, यूरोप तथा चीन तक सभी, जो भी उनके मार्ग में आए उनके पैरों के नीचे कुचले गये। उन देशों के लोगों में जातियों और उपजातियों के भेद नहीं थे। मुसलमानों के विनाशकारी आक्रमण की आँधी ने उन सभी शक्तिशाली साम्राज्यों का वैभव, सम्पत्ति एवं यशस्विता धूल में मिला दी और उन्हें ऐसा नष्ट कर दिया कि उनमें से अनेक तो पुनः विश्व मंच पर फिर कभी प्रकट ही नहीं हो सके।

इसी उन्माद और आवेश की लहरें हिन्दुस्थान के तटों पर भी टकराईं। किन्तु यहाँ का दृश्य कुछ दूसरा ही रहा। हमारे लोगों ने उन भीषण आक्रमणों का दृढ़ता एवं वीरता से सतत् एक हजार वर्ष तक सामना किया और उसके द्वारा विनिष्ट होने के स्थान पर अन्त में हम शत्रु की समस्त शक्तियों को कुचल कर उसे पूर्ण रूप से नष्ट करने में सफल हुये। हमारे समाज की विजयिष्णु भावना के प्रतीक स्वरूप मुसलमानों की शक्ति का सिंहासन दिल्ली में टुकड़े-टुकड़े कर ध्वस्त कर दिया गया। अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु अन्तिम विजय तक सतत् भीषण संघर्ष चालू रखने के इन शताब्दियों के लम्बे काल में यह स्मरण रहे कि जातियों का अस्तित्व बना हुआ था।

इतिहास हमें बताता है कि हमारे देश के पश्चिमोत्तर एवं पूर्वोत्तर भाग, जहाँ बौद्ध प्रभाव के कारण जाति-व्यवस्था भंग हो गई थी, मुसलमानों के भीषण आक्रमण के सरलता से शिकार हो गये। गान्धार, जिसे अब कन्दहार कहते हैं, पूर्ण रूप से मुसलमान हो गया। पूर्वी बंगाल में भी बहुत अधिक धर्म परिवर्तन हुआ। किन्तु दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश के भू-भाग जो कि जाति-पाँति की मर्यादाओं के पालन में अत्यन्त कठोर एवं पुरातनवादी माने जाते थे, मुस्लिम शक्ति एवं धर्मान्धता के कई शताब्दियों तक गढ़ रहते हुए भी हिन्दू-बहुल बने रहे। हम जानते हैं कि शिवाजी के समय तक तथाकथित निम्नजाति के लोगों ने भी स्वराज्य को पुनर्जीवन प्रदान करने के कार्य में एक महान् चिरस्मरणीय पराक्रम का अध्याय प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार इतिहास में हमें चित्र के दोनों पक्ष स्पष्ट देखने को मिलते हैं। एक ओर तो अनेकानेक जातियों से संकुचित हिन्दू समाज दो सहस्र वर्षों से भी अधिक काल से यूनानियों, शकों, हूणों, मुसलमानों तथा योरोपवासियों के विध्वंस का सामना करता हुआ अमर और अजेय बना हुआ है एवं आज भी रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक और गाँधी उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न है। जबकि दूसरी ओर तथाकथित बिना जातियों वाले समाज इनके एक ही झटके से चूर-चूर होकर पुनः कभी न उठने के लिए धूल में मिल गए हैं।

आज में दृष्ट

निस्सन्देह आज जाति-व्यवस्था सभी प्रकार से भ्रष्ट हो गई है। शताब्दियों की इस विकृति के साथ-साथ हमारी राजनीति में एक नई वस्तु और प्रवेश कर गई है, जिसने जातियों की इस विकृति

एवं कठोरता को और भी अधिक गम्भीर बना दिया है। यह वस्तु हमारी राजनीति में उन्हीं व्यक्तियों द्वारा लाई गई है, जो इस जाति-व्यवस्था की सदैव आक्रोशपूर्ण भर्त्सना करते रहे हैं। चुनाव के अवसर पर प्रत्याशियों के चुनाव में उनका मुख्य ध्यान जाति पर रहता है और उसी के आधार पर मतदाताओं से मतदान की प्रार्थना की जाती है। जातिवैमनस्य और विरोध के बढ़ते हुए इस आवेग के मूल में है - जाति के नाम पर किया जानेवाला यह नग्न स्वार्थ और सत्ता-पिपासा का आह्वान। इन भेदभावों को और भी अधिक चौड़ा करने के लिए राज्ययन्त्र का पापपूर्ण प्रयोग किया जाता है।

विकृति दूर करें

मैंने एक बार किसी से कहा था कि नया मकान बनाने के लिए कई बार पुराना मकान तोड़ना पड़ता है। आज विकृत बनी हुई जो समाजरचना है उसको यहाँ से वहाँ तक तोड़-मरोड़कर सारा ढेर लगा देंगे। उसमें से आगे चलकर जो विशुद्ध रूप से बनेगा सो बनेगा, आज तो सबका एकरस समाज बनाकर अपने विशुद्ध राष्ट्रीयत्व का स्मरण हृदय में रखकर राष्ट्र के नित्य चैतन्यमय व सूत्रबद्ध सामर्थ्य की आकांक्षा अंतःकरण में जागृत रखनेवाला समाज खड़ा करना है।

(श्री गु.स.खं २ पृष्ठ २३५)

महान् एकता की अनुभूति चाहिये

यह हमारे भूत और वर्तमान काल का चित्र है। यह दृश्य देखकर स्वाभाविक ही इस भूमि के प्रत्येक पुत्र को उमंग आना चाहिये कि अति प्राचीन सामाजिक एकात्मकता को अतीव शुद्धावस्था में पुनरुज्जीवित किया जाए। हमारा सम्पूर्ण समाज साक्षात् ईश्वर के रूप में हमारे हृदयों में पुनः प्रतिष्ठित होना चाहिए। वास्तव में यही एकत्व की भावना हमारी प्राचीन संस्कृति का अमर सन्देश रही है। संसार के अन्य लोग ईश्वर के पितृत्व एवं मनुष्य के भ्रातृत्व तक पहुँचकर रुक गए, किन्तु हम बहुत आगे तक बढ़ चुके हैं। हमने तो ब्रह्म से लेकर जड़ पदार्थ पर्यन्त एकत्व का अनुभव किया है।

अतः हम वह शुद्ध एकत्व की भावना पुनरुज्जीवित करें, जिसका प्रादुर्भाव इस अनुभूति के द्वारा होता है कि हम सभी इस महान् पवित्र जन्मभूमि भारतमाता के पुत्र हैं। हम उन विविध असंगत स्वयं को रोक दें, जो जाने या अनजाने में उठ रहे हैं और जिनके द्वारा हममें विच्छेद एवं भ्रान्ति उत्पन्न होती है। हमें कहानी के उन अंशों के समान नहीं होना चाहिये जिन्होंने हाथी के विभिन्न अंगों को छूकर अपना-अपना निजी वर्णन उस पशु के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया था। एक ने उसकी टाँगों को पकड़ा और खम्भे से उसकी तुलना की, दूसरे ने सूंड को स्पर्श करके सर्प के समान बतलाया तथा एक अन्य ने उसके पेट का आलिंगन कर उसे बड़े ढोल के समान बताया। इसी प्रकार औरों ने भी उस हाथी के स्वरूप का वर्णन किया। उनमें से प्रत्येक आंशिक रूप से सही था, किन्तु सम्पूर्ण रूप से उस पशु के आकार के विषय में सभी गलत थे।

हमारे समाज-पुरुष की सभी धमनियों में एक बार यह एकता का जीवनस्रोत प्रवाहित होना आरम्भ हो जाए, तो हमारे राष्ट्र-जीवन के सभी अंग स्वतः क्रियाशील हो जाएंगे तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के कल्याण हेतु मिलकर कार्य करने लगेंगे। इस प्रकार का जीवित और वर्धमान समाज अपनी प्राचीन पद्धतियों एवं प्रतिमानों में से जो कुछ आवश्यक है और जो हमें प्रगति के पथ पर अग्रसर करने वाला है, उसे सुरक्षित रखेगा तथा शेष को जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है फेंक देगा

एवं उनके स्थान पर नवीन पद्धतियों का विकास करेगा। किसी को भी प्राचीन व्यवस्था के समाप्त होने पर आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं है और न नवीन वस्तुओं की व्यवस्था के स्वागत में पीछे हटने की ही आवश्यकता है। यही सजीव एवं वर्धमान शरीर-धारियों की प्रकृति होती है। ज्यों-ज्यों वृक्ष बढ़ता है, पकी पत्तियाँ और सूखी टहनियाँ झड़ जाती हैं और उस वृक्ष की नूतन वृद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं। ध्यान में रखने की मुख्य बात यही है कि एकता का जीवन-रस हमारे समाज के ढाँचे के प्रत्येक भाग में परिव्याप्त रहे। प्रत्येक पद्धति अथवा प्रतिमान उस जीवन-रस के पोषण में जितना उपयोगी है, उसी के अनुसार वह जीवित रहेगा, परिवर्तित होगा और यदि अनुपयोगी हो गया है, तो लुप्त भी हो जाएगा। अतएव वर्तमान सामाजिक सन्दर्भ में सब पद्धतियों के भविष्य के विषय में वाद-विवाद करना बेकार है। इस समय की सबसे महत्त्वपूर्ण पुकार यही है कि अन्तर्निहित एकता की भावना को पुनर्जीवित किया जाए और हमारे समाज में जीवन हेतु उसकी उपयोगिता की चेतना जागृत हो। अन्य सब बातें स्वतः ठीक हो जाएंगी। (श्री गु.स.खण्ड ११ पृष्ठ १२४-२६)

३. धर्माचार्यों से अनुरोध

(धर्माचार्यों की बैठक में १३ दिसम्बर १९६९ की रात्रि में धर्मगुरुओं से किया गया अनुरोध)।

यदि हमारे मठाधिपति सर्वसाधारण समाज के मध्य भ्रमण करना प्रारम्भ कर दें, तो महान कार्य हो सकता है। अब तक वे अपने मठों की बंद दीवारों में हाथीदौत के स्तम्भ के समान बैठे रहे हैं। परिणाम यह हुआ कि हमारा समाज, विशेषकर दूर वनों, गिरि-कन्दराओं में निवास करनेवाले व्यक्ति धर्म की सहायता से वंचित हैं। असम में चारों 'सत्राधिकारी गोस्वामी' पिछले सैकड़ों वर्षों से अपने मठों से बाहर नहीं निकले। यद्यपि उन चारों के मठ ब्रह्मपुत्र नदी के एक ही द्वीप पर अवस्थित हैं, तब भी वे एक-दूसरे से आज तक नहीं मिले। जब ये चारों प्रथम बार असम के विश्व हिन्दू परिषद के सम्मेलन में पधारे, तब एक-दूसरे से पूछा कि वे कौन हैं? किन्तु अब स्थिति में कुछ अन्तर आया है। पूज्यपाद दक्षिणपंथ स्वामी जी जो आज भी अपने मध्य विराजमान हैं ने यात्राएँ की हैं। इन्होंने अपने जनजातीय अनुयायियों से भेंट की तथा उन्हें 'ओंकार दीक्षा' दी है। इसने उन भागों के जनजातीय भक्तों में आनन्दातिरेक उत्पन्न कर दिया है।

एक प्रश्न जो आज सामान्यतया पूछा जाता है, वह यह है कि धर्म की जो दुस्साध्य एवं अधिक समय लेनेवाली परम्पराएँ हैं और जिनका आम आदमी अपने जीवन में पालन नहीं कर पाता, क्या उनके स्थान पर सरल एवं लाभदायक पद्धति अथवा संस्कारों का विधान नहीं बनाया जा सकता? मैं कहूँगा कि उनके लिये सरल विधि 'राम नाम' अथवा अन्य किसी देवता का नाम ही पर्याप्त है। यह कहना कि किसी मंत्र अथवा सम्प्रदाय में प्रारम्भिक भक्ति का मार्ग न होने के कारण वे भक्ति नहीं कर पाते, ठीक नहीं है। समाज के इस वर्ग में महानतम आध्यात्मिक संतों का जन्म हुआ है और उन्हें तथाकथित उच्च जातियों का स्वाभाविक आदर मिला है। शताब्दियों से इस वर्ग ने सरल रीतियों से ही सच्ची भक्ति की है और हृदय के उल्लेखनीय गुणों के विकास का परिचय दिया है। अब यह धर्मगुरुओं का काम है कि वे उनके पास पहुँचे और छिपी भक्ति एवं सद्गुणों को विकसित करें।

हमारे धर्मगुरुओं का यह कर्तव्य है कि वे आज की प्रचलित कुरीतियों से हमारी रक्षा करें। हमारे प्रत्येक धर्मगुरु का किसी-न-किसी विशेष मठ एवं सम्प्रदाय से सम्बंध है। निस्संदेह, यह उनका कर्तव्य है कि वे उस मठ की पूजा की पारम्परिक पद्धति की रक्षा करें। किन्तु जब वे मठ से बाहर आये, तब उन्हें उन सिद्धान्तों पर ही बल देना चाहिये जो सभी के लिये उचित हों। किसी विशेष दर्शन का उपदेश देना अथवा भगवान् के किसी विशेष स्वरूप को अच्छा बता कर अन्यो की आलोचना करना, हिन्दू समाज की एकता एवं पुनरुत्थान के महान कार्य के अनुकूल नहीं होगा। (श्री गु.स.खं. ५ पृष्ठ ८८-८९)

४. धर्मध्वजा सर्वत्र फहराएँ

(उडुपी, १४ दिसम्बर १९६६)

दो दिन के अधिवेशन में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चाएँ हुई हैं। तो भी, केवल बातें करने अथवा प्रस्ताव पारित करने से स्थिति में अन्तर नहीं आनेवाला। उदाहरण के लिये हमने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित किया है कि सभी हिन्दुओं को अस्पृश्यता को त्याग देना चाहिए।

रूढ़ियाँ धर्म नहीं

अब से पहले भी हमारे अनेक सन्तों, राजनीतिक एवं सामाजिक नेताओं ने समाज से अस्पृश्यता को समाप्त करने के प्रयास किये हैं। इनमें से कुछ हैं- गुरु नानक, रामानुज, बसवेश्वर, दयानन्द, गांधीजी तथा वीर सावरकर। जिन्होंने इस दिशा में भरसक कार्य किया। फिर भी यह धब्बा रह ही गया। आज भी तथाकथित उच्च जाति, तथाकथित अस्पृश्यों से समानता के आधार पर व्यवहार करने को तैयार नहीं। वृत्तपत्रों में समाचार आया था कि राजस्थान के एक गाँव में एक हरिजन को केवल इसलिये मार डाला गया, चूंकि उसने मूँछे रख ली थीं। क्योंकि मूँछे रखना केवल क्षत्रियों का चिन्ह ही समझा जाता है। हमारे धर्मगुरुओं ने भी इसकी भर्त्सना नहीं की। क्योंकि वे भी रूढ़ियों को धर्म समझने की भूल करते हैं। किन्तु अब स्वयं हमारे धर्मगुरुओं ने ही अस्पृश्यता त्यागने का निर्देश दिया है, तब इस निर्देश का जीवनपर्यन्त पालन करना हमारा कर्तव्य है।

(श्री गु.स.खं ५ पृष्ठ ८६)

५. अस्पृश्यता का उपचार

अस्पृश्यता रोग की जड़ जन सामान्य के इस विश्वास में निहित है कि यह धर्म का अंग है और इसका उल्लंघन महापाप होगा। यह विकृत धारणा ही वह मूल कारण है, जिससे शताब्दियों से अनेक समाज- सुधारकों एवम् धर्म- धुरन्धरों के समर्पित प्रयासों के बाद भी यह घातक परम्परा जनसामान्य के मन में आज भी घर किए बैठी है। गुरुनानक, आचार्य रामानुज, बसवेश्वर, शंकरदेव, स्वामी दयानन्द, नारायण गुरु, गाँधीजी और वीर सावरकर सरीखे अनेक महापुरुषों ने हिन्दू-समाज के मस्तक पर लगे इस कलंक को मिटाने का अथक प्रयास किया है। फिर भी यह कलुषित दाग अभी विद्यमान है। आज भी तथाकथित उच्च जातीय लोग उन तथाकथित अस्पृश्यों को अपने समान मानने को तैयार नहीं हैं।

एक अविस्मरणीय आयोजन

मिथ्या धर्मधारणा से उत्पन्न इस सामाजिक बुराई में यह अन्तर्निहित है कि जन सामान्य की दृष्टि में अधिकाधिक धर्म-प्रवक्ता के रूप में मान्य परम्परागत मठाधीशों को ही इस अधार्मिक आचरण का निदान प्रस्तुत करने हेतु प्रस्तुत होना चाहिए। इस दिशा में सन् १९६६ में विश्व हिन्दू परिषद् के उडुपी (कर्नाटक) सम्मेलन में एक सही शुरुआत की गई। इसमें शैव, वीर शैव, माध्व,

वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि समस्त हिन्दू सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व हुआ था। सम्मेलन में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित कर सम्पूर्ण हिन्दू जगत् का आह्वान किया गया कि वे श्रद्धेय आचार्यों व धर्मगुरुओं के निर्देशानुसार अपने समस्त धार्मिक व सामाजिक अनुष्ठानों से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करें।

धर्माचार्यों का आदेश-निर्देश

पूज्य धर्माचार्यों का ऐतिहासिक निर्देश इस प्रकार है कि 'समस्त हिन्दू समाज को अविभाज्य एकात्मता के सूत्र में पिरोकर संगठित करने एवं स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना व प्रवृत्ति से प्रेरित विघटन को रोकने के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विश्व भर के हिन्दुओं को अपने पारस्परिक व्यवहार में एकात्मता एवं समानता की भावना को बरकरार रखना चाहिए।' निस्संदेह इस प्रस्ताव की स्वीकृति हिन्दू समाज के इतिहास में क्रान्तिकारी महत्त्व का कदम माना जा सकता है। यह एक विकृत परम्परा पर सच्ची धर्मभावना की विजय का स्वर्णिम क्षण था। (श्री गु.स.खं ११ २३७-२३८)

एकता पर बल दो, भेदों की अनदेखी करो

इसके लिए भजन कीर्तन अथवा रामायण व महाभारत की कथाओं को सुनाने आदि का कार्यक्रम किया जा सकता है, जहाँ सभी हिन्दू विशुद्ध धर्म प्रेम की पवित्र धारा में समान भ्रातृ-भावना से अनुप्राणित होकर अस्पृश्य-स्पृश्य आदि का भेद भूलकर एकत्र हों।

साक्षरता, स्वास्थ्य, खेल इत्यादि के प्रोत्साहन हेतु सेवा प्रकल्प प्रारम्भ किए जा सकते हैं। इस हेतु आधुनिक दृश्य-श्रव्य उपकरणों को भी उपयोगी ढँग से अपनाया जा सकता है। परन्तु इन सभी गतिविधियों का केन्द्रबिन्दु हृदय को प्रभावित करना, एकताकारी सत्प्रवृत्तियों पर बल देना तथा मतभेदों की उपेक्षा करना होना चाहिए।

सफलता का रहस्य

इस स्वर्णिम सिद्धान्त का अक्षरशः आचरण करने के कारण ही संघ में जाति-वर्ग, पंथ, भाषा अथवा अन्य किसी प्रकार के भेदों का नाम तक नहीं है। समाज के प्रत्येक क्षेत्र से आए लाखों स्वयंसेवक एक साथ उठते-बैठते, खाते-पीते तथा खेलते हैं। वे यह जानने की चिन्ता भी नहीं करते कि उनके बगल में बैठा स्वयंसेवक किस जाति बिरादरी का है। (श्री गु.स.खं. ११ २४२-२४३)

६. उपेक्षित बन्धुओं की सेवा

अपने देश के पूर्वांचल में एक विचित्र बात दिखाई देती है। हमारी सरकार ईसाइयों के अस्तित्व को तो मान्यता देती है, किन्तु हिन्दुओं को नहीं। सरकार ने सभी गैर-ईसाइयों को हिन्दुओं से पृथक् 'जनजाति' के रूप में श्रेणीबद्ध किया है। सन् १८८१ की जनगणना में इसे प्रारंभ करने के बाद हमारी सरकार ने उसी क्रम को चलाए रखा। अलगाव के समर्थक ये नेता तर्क देते हैं कि ये जनजातीय लोग पेड़-पत्थर तथा साँपों की पूजा करते हैं, अतः प्रकृति-पूजक हैं। इस कारण उन्हें हिन्दू नहीं कहा जा सकता। यह बात हिन्दुत्व के 'क, ख, ग' से अनभिज्ञ व्यक्ति ही कह सकता है। प्रकृति पूजक शब्द का अर्थ है 'समस्त सृष्टि में अनुस्यूत जीवन-सिद्धान्त।' अभिव्यक्ति का बाह्य रूप चाहे जैसा भी हो, पूजा तो उसी अन्तर्निहित आत्मा की ही होती है। क्या देश भर में हिन्दू, वृक्ष की पूजा नहीं करते? तुलसी, बिल्व, अश्वत्थ आदि वृक्ष सभी हिन्दुओं के लिए पवित्र हैं।

हृदय से कार्य करना

अब हमारा परम कर्तव्य है कि इन उपेक्षित बन्धुओं के बीच जाएँ और उनके जीवन-स्तर में सुधार लाने हेतु पूरी शक्ति से जुट जाएँ। हमें ऐसी योजनाएँ बनानी होंगी, जिनसे उनकी मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं एवं सुख-साधनों की पूर्ति हो सके। उन्हें इन योजनाओं से लाभान्वित कराने हेतु हमें विद्यालय, छात्रावास व प्रशिक्षण केन्द्र खोलने होंगे। किन्तु इन भौतिक सुख-सुविधाओं के साथ-साथ ईश्वर-भक्ति के माध्यम से उनमें राष्ट्र के प्रति प्रेम व स्वाभिमान उत्पन्न कर शेष हिन्दू समाज और अपनी पहचान में एकरूपता की भावना जगाना भी आवश्यक है। इसके लिए हमें ऊँच-नीच की मिथ्या धारणाओं का परित्याग कर समता की भावना के साथ उनमें घुलना-मिलना चाहिए। हमें उनके साथ निःसंकोच भाव से हिलमिल कर खाना-पीना चाहिये तथा उनके साथ भक्तिभाव से भजन-कीर्तन करना चाहिए।

फिर जनजातियों के घुमन्तू स्वभाव की समस्या है। जब तक वे एक स्थान पर किसी निश्चित अवधि तक नहीं ठहरते, तब तक उन्हें कोई प्रशिक्षण एवं संस्कार कैसे दिया जाए? निस्सन्देह सरकार भी उनके सम्बन्ध में प्रयत्नशील है, तथापि सरकार एक मशीनरी ही है। मशीन मनुष्यों के व्यवहार-ढंग बदलने में अक्षम होती है। केवल मानवीय सहृदयता ही जनजातियों को स्थिर जीवन अपनाने हेतु प्रेरित कर सकती है। यदि हम वन्य जन्तुओं को पालतू बना सकते हैं, तो क्या हम अपने इन बान्धवों के मन बेहतर व परिष्कृत जीवन जीने हेतु तैयार नहीं कर सकते?

इन क्षेत्रों में विदेशी धर्म-प्रचारकों की कार्य शैली का अध्ययन भी आवश्यक है। उनके व्यवहार में कितना प्रबल समर्पण एवं प्रयास दिखाई देता है। वे प्रसन्नता पूर्वक कितने भारी कष्ट सहन करते हैं। सुदूर देशों से आकर जंगलों के बीच स्थानीय लोगों के मध्य झोपड़ियों में बसना, निस्सन्देह प्रशंसनीय व अनुकरणीय है। वे उन लोगों में घुल मिल कर उनकी भाषा सीखकर उनके रीति-रिवाजों के साथ एकरूप हो जाते हैं। उनका व्यवहार अत्यन्त मृदुल एवं स्नेहपूर्ण होता है। क्या हम इन मिशनरियों के अनुभव से कुछ लाभ नहीं उठा सकते?

हम सुधार करें

आजकल हमारे लोग इन लोगों के बीच केवल उनका शोषण करने के लिए जाते हैं। 'गोमांस भक्षी' कहकर कुछ लोग उनका तिरस्कार करते हैं और उनमें घुलने-मिलने अथवा उन्हें हिन्दू मानने से इन्कार करते हैं। परन्तु क्या हमने उनकी सभी परिस्थितियों का सहानुभूति-पूर्वक विचार किया है? क्या किसी ने उनके पास जाकर उन्हें गाय के प्रति श्रद्धा के विषय में बताया है? क्या उसे 'माता' कहने का किसी ने आग्रह किया है? ऐसी स्थिति में दोष उनका नहीं, हमारा है। दूसरी बात यह है कि उनके पास खाद्य सामग्री का अभाव है। फलतः आवश्यकता के कारण उन्हें गोमांस खाना पड़ गया होगा, फैशन या स्वाद के कारण नहीं। तब भी दोष हमारा ही है।

यह शेष हिन्दू समाज का कार्य है कि वह उनके बीच जाए, उन्हें शिक्षित बनाए और उनके सांस्कृतिक स्तर तथा जीवन स्थितियों में उत्कर्ष लाकर अपनी भूल का प्रायश्चित्त करे। यह कहना एकदम गलत है कि उनकी उपेक्षा की जड़ें हमारी समाज-रचना में हैं। प्राचीन काल में जब पंचायत-प्रणाली समाज का मूलाधार थी, तब उसमें वनवासी जातियों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसका उल्लेख श्रीराम कालीन राजनीतिक प्रणाली के वर्णन में भी मिलता है।

कर्मयोगी की श्रावणा

गत अनेक शताब्दियों से इन भाई-बहनों के प्रति स्नेह व सम्पर्क का अभाव ही उनकी वर्तमान उपेक्षा व विकट परिस्थितियों का प्रमुख कारण है। शेष समाज शिक्षा से लाभान्वित होता रहा, किन्तु इन्हें उससे वंचित रखा गया। उपयुक्त तकनीकी व अन्य प्रशिक्षणों के अभाव में ये वर्ग अपनी उत्पादन क्षमता एवं समृद्धि में पिछड़ते गये। आज हमें यही शिक्षा देश के सुदूरवर्ती वनांचलों में उन बन्धुओं तक पहुँचानी है, जिनके लिए धर्म अन्ध-विश्वासपूर्ण कर्मकाण्डों का समुच्चय मात्र बनकर रह गया है अथवा जिन्हें सुदूरतम-पर्वतों में रहने के कारण धर्म को समझने और तदनु रूप जीवन यापन करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। इस कार्य में विकट कठिनाइयों, कष्टों और विपत्तियों का सामना करना होगा। ऐसा अनुभव भी हो सकता है कि यह कृतज्ञता-शून्य कार्य है। परन्तु हमें त्वरित फल अथवा किसी चमत्कार की अपेक्षा किए बिना, कठोर यथार्थ का सामना करते हुए, सच्चे कर्मयोगी के भाँति अनन्त धैर्य के साथ कर्म पथ पर अग्रसर होना होगा। (श्री गु.स.खं. ११ पृष्ठ ३४४-३४८)

७. प्रश्नोत्तर

प्रश्न: क्या हिन्दू संस्कृति के संवर्धन में वर्ण व्यवस्था की पुनर्स्थापना निहित हैं?

उत्तर: नहीं। हम न जातिप्रथा के पक्ष में हैं और न ही उसके विरोधक हैं। उसके बारे में हम इतना ही जानते हैं कि संकट के कालखंड में वह बहुत उपयोगी सिद्ध हुई थी और यदि आज समाज उसकी आवश्यकता अनुभव नहीं करता, तो वह स्वयं समाप्त हो जाएगी। उसके लिये किसी को दुखी होने का कारण भी नहीं।

प्रश्न: क्या वर्ण व्यवस्था हिन्दू समाज के लिये अनिवार्य नहीं है?

उत्तर: वह समाज की अवस्था या उसका आधार नहीं है। वह केवल व्यवस्था या एक पद्धति है। वह उद्देश्य की पूर्ति में सहायक है अथवा नहीं, इस आधार पर उसे बनाए रख सकते हैं अथवा समाप्त कर सकते हैं। (खण्ड -६ पृष्ठ क्र.११८)

प्रश्न: हमारे देश के कुछ हिस्सों में गाय, जो हमारी संस्कृति का प्रतीक है, के प्रति आदर की भावना दिखाई नहीं देती। इससे कैसे निपटा जाए?

उत्तर: असम में उनके समक्ष यह समस्या उपस्थित हुई कि कुछ वनवासी जन जातियाँ गोमांस खाने की आदी हैं। पर इसके लिये उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उन्हें योग्य शिक्षा देने के बारे में हम शताब्दियों से गाफिल रहे। हममें से कुछ तो उन्हें हिन्दू मानने को ही तैयार नहीं हैं। मेरा कहना है कि उनके बीच जैसे-जैसे संस्कृति का प्रभाव बढ़ेगा, वे स्वयं होकर गोमांस खाना बंद कर देंगे। इस दिशा में उन्हें धीरे-धीरे शिक्षा दी जानी चाहिए।

वस्तुतः भूतकाल में उनके साथ सांस्कृतिक संबंध बनाए रखने की व्यवस्था थी। उस प्रांत के गोंसाई लोगों का यही काम था कि वे जनजातियों में घुलें-मिलें और सांस्कृतिक उत्थान के लिये उन्हें शिक्षित करें। पर अब स्थिति इसके विपरीत है। एक बार आचार्य शंकरदेव के पंथ के कुछ लोगों से मिलने का प्रसंग आया। उन्होंने कहा - 'हम ऐसे जंगली लोगों से कैसे घुल-मिल सकते हैं?' फिर कुछ चर्चा के पश्चात् वे इनके साथ बैठकर भोजन करने के लिये सहमत हुए। जनजातियों के जो नेता वहाँ उपस्थित थे, वे इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि ऐसी बात हो सकती है। भोजन के लिये बैठने को कहने पर वे संकोच के साथ थोड़ी दूर पर जाकर खड़े हो गए। तब मैंने उनको आग्रहपूर्वक बुलाकर बिठाया और उनके दो नेताओं को अपने दोनों तरफ बैठाया। असल समस्या यह है कि हम उनसे दूर रहने लगे और शिकायत करते हैं कि वे बुरे हैं। (खण्ड -६ पृष्ठ क्र. १३८-३९)

श्री लिमये : अस्पृश्यता समाप्त करने का सरल मार्ग आपने सुझाया है, ऐसा आप कहते हैं। पर अस्पृश्य कौन है? यह मेरी धारणा है कि अस्पृश्यों को शुद्ध करने का अधिकार इन धर्माचार्यों को किसने दिया? हम इन्हें धर्माचार्य नहीं मानते।

श्री गुरुजी : कुछ बातों पर हमें विशेष ध्यान देना होगा। अस्पृश्यता केवल अस्पृश्यों का ही प्रश्न नहीं है। कौन कहाँ जन्म लेता है यह किसी के वश की बात नहीं है। मैं इसी कुल में जन्म लूँगा यह कोई नहीं कह सकता। अतः अस्पृश्यता, सवर्णों के संकुचित मनोभावना का नामकरण है। अतएव अस्पृश्यता समाप्त करना इसका तात्पर्य उस संकुचित भावना को समाप्त करना है। इसी प्रकार आप या मैं धर्माचार्यों को मानता हूँ या नहीं, इससे कोई संबंध नहीं है। जो अस्पृश्यता मानते हैं वे धर्माचार्यों को भी मानते हैं। अतएव धर्माचार्यों के माध्यम से इस प्रश्न को सुलझाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विगत कई वर्षों से मेरे अनेक धर्माचार्यों एवं शंकराचार्यों से निकट के संबंध रहे हैं। जिससे मैं यह कह सकता हूँ कि धर्माचार्य यह कार्य अवश्य करेंगे। अर्थात् अस्पृश्यता समाप्त करने का कार्य अनेकों ने किया है। महात्मा गांधी का इसमें गुरुतर सहयोग है। अस्पृश्यता निवारण में जो पचासों प्रयोग हो रहे हैं, उसमें मेरा भी एक योगदान है।

(खण्ड -६ पृष्ठ क्र. १७६-८०)

प्रश्न : अभी-अभी एक समाचार पढ़ा है कि प्रयाग विश्वविद्यालय के एक छात्रावास में हरिजन छात्रों को प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई।

श्री गुरुजी : मुझे दुःख होता है यह सुनकर। लगभग ४० वर्ष पूर्व जब मैं बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में पढ़ता था, तब एक गरीब हरिजन विद्यार्थी ने अपनी भोजन की समस्या मुझे बताई। मैंने अपने भोजनालय के मित्रों से इस संबंध में बातचीत की, तो सबने अपने साथ उसे भोजन कराना सहर्ष स्वीकार कर लिया, वह भी निःशुल्क। यह व्यवस्था पूरे दो वर्षों तक चलती रही।

जातिसंबंधी उथली आलोचनाओं पर मैं विश्वास नहीं करता। मैं उसे सहृदयता से समाप्त करना अधिक पसंद करूँगा। पिछले ही सप्ताह, कोचीन में मैंने एक श्रेष्ठ नंबूद्री ब्राह्मण के साथ छोटी समझी जानेवाली जाति के एक इड़वा के यहाँ भोजन किया। समस्या सुलझाने का यही तरीका है, हो-हल्ला मचाना नहीं। (खण्ड -६ पृष्ठ क्र. १७८)

प्रश्न : यह हिन्दू राष्ट्र है। इस सिद्धान्त पर जो आपत्ति करते हैं वे ऐसा समझते हैं, कि हिन्दू राष्ट्र में मुसलमानों और ईसाइयों को दबाया जायेगा तथा जो पुराने जमाने में जाति और वर्ण-व्यवस्था थी, उसीको लाकर उसके आधारपर छुआ-छूत बढ़ाकर ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित किया जायेगा। ऐसे विकृत और विपरीत अर्थ का वे हम पर आरोप करते हैं और कहते हैं कि ये विचार देश के लिये घातक हैं, संकटकारी हैं।

उत्तर : अपने यहाँ कहा है कि यह कलियुग है, इसमें सब वर्ण समाप्त होकर एकही वर्ण रहेगा। ४ लाख २७ हजार वर्ष तक एक ही वर्ण रहेगा। इसको मानो। अपने मन में वर्णव्यवस्था, जातिव्यवस्था का नाम सुनते ही बड़ी हिचकिचाहट उत्पन्न हो जाती है। हम 'ऑपॉर्लॉजेटिक' हो जाते हैं। हम वृद्धतापूर्वक कहें कि एक समय ऐसी व्यवस्था थी। उसने समाज का बड़ा उपकार किया। आज उपकार दिखता नहीं, तो हम उसको छोड़कर नई व्यवस्था बनायेंगे।

जीवशास्त्र में जो विकास है वह बिल्कुल सादी रचना से जटिलता की ओर होता है। जीव की सबसे प्राथमिक अवस्था में हाथ, पैर कुछ नहीं होते। माँस का लोथ रहता है। उसी से सब काम, खाना, पीना, निकालना सब वह करता है। जैसे- जैसे उसका विकास होता है वैसे-वैसे 'फंक्शनल आरगन्स' (कर्मेद्रियाँ) प्रकट होने लगते हैं, यह 'इव्होल्यूशनरी प्रोसेस' (उन्क्रान्त प्रक्रिया) सामाजिक जीवन में है। जिनमें ऐसा विकास नहीं वे 'प्रिमिटिव सोसायटीज' (आदिम समाज) हैं। केवल मारक अस्त्र आदि बना लेना विकास नहीं। अस्तु। हम तो समाज को ही भगवान मानते हैं, दूसरा हम जानते नहीं। समष्टिरूप भगवान की सेवा करेंगे। उसका कोई अंग अछूत नहीं, कोई हेय नहीं। एक-एक अंग पवित्र है, यह हमारी धारणा है। इसमें तर तम भाव अंगों के बारे में उत्पन्न नहीं हो सकता। हम इस धारणा के आधार पर समाज बनायेंगे। भूतकाल के बारे में क्षमापार्थी होने की कोई बात नहीं। दूसरों से कहें कि तुम क्या हो? मानव सभ्यता के शताब्दियों लम्बे कालखण्ड में तुम्हारा योगदान कितना रहा? आज भी तुम्हारे प्रयोगों में मानव-कल्याण की गारण्टी नहीं। तुम हमें क्या उपदेश देते हो? यह हमारा समाज है। अपना समाज हम एकरस बनायेंगे। उसका अनेक प्रकार का कर्तृत्व, उसकी बुद्धिमत्ता सामने लायेंगे उसका विकास करेंगे।

(गु.स.ख. २, पृष्ठ ३२६-३३१)

श्री नंबूदिरी: क्या ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जाति के लोगों को भी तंत्रोक्त पूजा की शिक्षा दी जाए? क्या उनको भी प्रशिक्षित कर पूजक नियुक्त करना उचित होगा?

श्री गुरुजी: अपने समाज की पूरी संरचना विशृंखल, अस्तव्यस्त सी हो गई है। वर्णों की शुद्धता नष्ट हो चुकी है। कुछ यज्ञों में चारों वर्णों का पूर्ण सहयोग आवश्यक रहता था। प्रत्येक के लिये पूर्वनियोजित कर्तव्य निश्चित किया हुआ था। शूद्रोंसहित सभी वर्ण के लोग यज्ञ में उपस्थित रहकर वेदमंत्रों को सुनते थे। वेदमंत्रोच्चारण सुनने पर कोई निर्बंध नहीं था। इसलिये शूद्रों को वेदमंत्र सुनना निषिद्ध था, ऐसा कोई भी अधिकारवाणी से कह नहीं सकता। श्रद्धेय आचार्यों को मैंने यही प्रश्न पूछा था और उत्तर देना उनको संभव नहीं हुआ था। हमारे लिये आवश्यक है कि हम शास्त्रों द्वारा किया गया मार्गदर्शन और उसका निष्कर्ष सही अर्थ में समझें। वर्ण और आश्रमों की व्यवस्था समाप्त-सी हो गई है। ऐसा कहा गया है कि कलियुग में केवल एक शूद्र वर्ण ही रहेगा। आज हम देख सकते हैं कि संसार के सभी देशों में शासनकर्ता शूद्र ही हैं। शास्त्रों के अनुसार इस युग के वे स्वामी हैं। प्रत्येक युग में एक वर्ण की प्रभुता रहेगी। प्रथम युग में ब्राह्मणों का वर्चस्व रहेगा और शेष तीन युगों में अन्य वर्णों का। मुझे लगता है कि किसी भी युग में संसार में सद्गुणसंपन्न लोगों का, वे चाहे जिस वर्ण के हों प्रभुत्व रहेगा।

(गु.स.ख.६, पृष्ठ २४१-२४२)

प्रश्न: जातिव्यवस्था विषयक आपके कथित मत के विषय में विगत कुछ दिनों से काफी हंगामा हो रहा है। लगता है उस विषय में कुछ भ्रांति है?

श्री श्रीगुरुजी: भ्रांति जैसी कोई बात नहीं है। कुछ लोग ऐसे हैं जो मेरे प्रत्येक कथन को तोड़-मरोड़ कर रखते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि देश का मटियामेट करने के उनके षड्यंत्रों में एकमेव संघ ही बाधक है।

प्रश्न: जाति के विषय में आपका निश्चित दृष्टिकोण क्या है?

श्री श्रीगुरुजी : संघ किसी जाति को मान्यता नहीं देता। उसके समक्ष प्रत्येक व्यक्ति हिंदू है। राष्ट्रीय एकात्मता की बातें करनेवालों ने ही अल्पसंख्यकों व बहुसंख्यकों, अनुसूचित जनजातियों व अनुसूचित जातियों व पहाड़ी जातियों तथा वन्य जातियों, पिछड़े वर्गों आदि में समाज को विभक्त कर रखा है। राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति यह एक सर्वाधिक अराष्ट्रीय दृष्टिकोण है। ये लोग नहीं जानते कि इस गरीब देश का अन्य कोई जितना गरीब है उतना ही ब्राह्मण भी गरीब है। उनमें से ६० प्रतिशत लोगों को दो समय भरपेट भोजन भी नहीं मिलता।

प्रश्न: जाति के प्रति आपका दृष्टिकोण क्या है?

श्रीगुरुजी : जाति अपने समय में एक महान संस्था थी। किंतु आज वह देश में कालबाह्य है। जो लचीला न हो वह शीघ्र ही प्रस्तरित वस्तु बन जाता है। मैं चाहता हूँ कि अस्पृश्यता कानूनी रूप से ही नहीं, प्रत्यक्ष रूप से भी समाप्त हो। इस दृष्टि से मेरी बहुत अधिक इच्छा है कि अस्पृश्यता निवारण को धर्मगुरु धार्मिक मान्यता प्रदान करें।

मेरा यह भी मत है कि मनुष्य का सच्चा धर्म यही है कि उसका जो भी कर्तव्य हो, उसे बिना ऊँच-नीच का विचार किये, उसकी श्रेष्ठतम योग्यता के साथ वह करे। सभी कार्य पूजास्वरूप हैं और उन्हें पूजा की भावना से ही किया जाना चाहिए। मैं जाति को प्राचीन कवच के रूप में देखता हूँ। अपने समय में उसने अपना कर्तव्य किया। किंतु आज वह असंगत है। अन्य क्षेत्रों की तुलना में पश्चिम पंजाब व पूर्व बंगाल में जाति-व्यवस्था दुर्बल थी। यही कारण है कि ये क्षेत्र इस्लाम के सामने परास्त हुए। वह स्वार्थी लोगों द्वारा थोपी गई अनिष्ट बात है, ऐसी अज्ञानमूलक भर्त्सना करने के लिये मैं तैयार नहीं हूँ। अपने समय में वह एक महान संस्था थी तथा जिस समय चारों ओर अन्य सभी कुछ ढहता दिखाई दे रहा था। उस समय वह समाज को संगठित रखने में लाभप्रद सिद्ध हुई।

(गु.सं.ख. ६ पृष्ठ १७६, १७७)

श्री रामचंद्रन : क्या हमारे समाज की आज की गतिहीन अवस्था किसी भी अच्छे प्रकाशन में अभिरुचि न रहने के कारण हो सकती है। आजकल लोग अपने व्यक्तिगत जीवन में ही रम गये नजर आते हैं।

श्री गुरुजी : हमारे समाज की आज की अवस्था को गतिहीन नहीं कहा जा सकता। संकटपूर्ण अवस्था से हम गुजर रहे हैं। समाज की भयावह अवस्था हमारा संपूर्ण कर्तृत्व समाज के चरणों में लगाने की प्रेरणा जगाता है।

श्री रामचंद्रन : दिखाई तो तो यही देता कि ऐसी चाह लोगों में नहीं जग रही है। केवल व्यक्तिगत जीवन में आनंद, मौज मनाने की इच्छा ही लोगों में देखी जाती है। बाधाओं को देखकर दूर भागने का ही वे सोचते हैं।

श्री गुरुजी : यह तो आत्मघात जैसा होगा। बाधाओं से भागने वाले को पलायनवादी कहा गया है। संकटावस्था और आपत्ति में ही तो धीर पुरुष पूर्ण कर्तृत्व प्रकट करता है। काफी रुपया पैसा पास रहने पर भी किसी अच्छे काम में अल्प धन देकर योगदान देने में क्या गुरुता है। बाधाओं से बचने के लिये जिस समाज के लोग सिनेमा देखने दौड़ते हैं, उनका भविष्य निश्चय ही अंधकारमय है। दूसरे महायुद्ध के प्रारंभ में फ्रांस की ऐसी अवस्था थी। वहाँ उन दिनों सिनेमागृह खचाखच भरे रहते

थे। उसी समय मुझे लग रहा था कि ऐसा राष्ट्र जर्मनी के सम्मुख युद्ध में दो सप्ताह भी खड़ा न रह सकेगा। पश्चात् हुआ आप जानते ही हैं।

जहाँ भारत का प्रश्न है, उच्चस्तरीय त्याग-तपस्या के हम अभ्यस्त थे। हमारे ऋषि मुनियों ने स्वेच्छा से निर्धन जीवन स्वीकार किया था। संत तुकाराम कहते थे कि एक स्त्री की भुखमरी से जीवन में संतोष में कमी नहीं आयी, और दूसरी कर्कशा रहने के कारण प्रसन्नता रहती है। ऐसे सत्पुरुषों का आदर्श देखकर हमें सभी संकटों से सफल संघर्ष करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

श्री रामचंद्रन: परंतु जब संपूर्ण समाज अकर्मण्यता की ओर बढ़ रहा है, तब कैसा होगा?

श्री गुरुजी: प्रथम व्यक्ति का जीवन उन्नत होना चाहिये, तभी समाज की उन्नति होगी। प्रारंभ में कुछ कार्यकर्ताओं का जीवन ऐसा भव्य, उदात्त बनाना होगा कि जो विश्व पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ हो सकें।

प्रश्न: हमारे समाज जीवन के ढाँचे में संयुक्त परिवार की क्या भूमिका है?

उत्तर: संयुक्त परिवार सहकारिता तत्त्व का निर्वाह करने वाली एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। किन्तु संपूर्ण इतिहास काल में यह कठोर अपरिवर्तनशील संस्था नहीं रही। आधुनिक काल में भी इसका रूप जैसा उत्तर भारत में है, वैसा मालाबार में नहीं है। आर्थिक और सामाजिक प्रभाव उसे नष्ट-भ्रष्ट करते रहे हैं। उसके बाह्य स्वरूप में परिवर्तन भले ही हों, पर व्यक्ति-व्यक्ति में प्रेम और सेवा का बंधन नहीं टूटना चाहिए।

(गु.स.ख.६ पृ. १२३)

प्रश्न: विज्ञान बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है तथा उसे देखते हुए क्या धर्म-रुढ़ियाँ बदलनी नहीं चाहिये?

श्री गुरुजी: रुढ़ियाँ तो सदा बदलती ही रहती हैं। व्यक्तिगत व सामाजिक कारणों से जो रुढ़ियाँ निर्माण होती हैं, उनमें निसर्गतः ही परिवर्तन होता है। यह अनिवार्य भी है। किंतु धर्म और धर्मरुढ़ि में संभ्रम नहीं होना चाहिये।

(गु.स.ख.६ पृ. १६५)
